

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 5 अंक 3

जनवरी-मार्च 2008

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति  
लोकेश चन्द्र  
यशदेव शल्य  
जे.एन.राय  
रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक  
बी. बी. कुमार

आस्था भारती  
दिल्ली

**वार्षिक मूल्य :**

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

**एक प्रति का मूल्य**

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

**विज्ञापन दरें :**

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

**आस्था भारती**

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : [asthabharati@yahoo.com](mailto:asthabharati@yahoo.com), [asthab@vsnl.net](mailto:asthab@vsnl.net)

वेब साइट : [asthabharati.org](http://asthabharati.org)

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. सूर्योदय के देश (जापान) में अधिष्ठित हिन्दू देव-देवियों लोकेश चन्द्र	9
2. स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन यशदेव शल्य	22
3. नक्सलवाद: मिथक और यथार्थ विजय कुमार एवं शंकर शरण	31
4. नहीं ली हिन्दी ने प्राणशक्ति भारतीय भाषाओं और जनभाषाओं से पुष्पपाल सिंह	45
5. दमण का आँखों देखा स्वाधीनता संग्राम मदनमोहन तरुण	52
6. तुलसी जीवन की उपेक्षित घटनाएं विष्णुदत्त शर्मा	66
7. अठारह सौ सत्तावन का स्वतंत्रता-संग्राम: एक दृश्य, दो दृष्टियाँ कृष्ण चन्द्र गोस्वामी	77
8. पुस्तक समीक्षा : मूर्तिभंजक मूर्तिपूजकों के विरुद्ध रमेशचन्द्र शाह	88
9. भारत की सनातन सांस्कृतिक निरन्तरता महेश दुबे	93
10. सूफी सरमद जो औरंगजेब के हाथों शहीद हुए परमानन्द पांचाल	101
11. औद्योगीकरण के विषम सामाजिक प्रभाव का अंग्रेजी साहित्य में चित्रण पल्लवी मिश्र	105
12. शिक्षा का प्रचार-प्रसार: महिलाओं की भूमिका और प्रदेय हरीश कुमार सेठी	112
पाठकीय प्रतिक्रिया	119



## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### चौतरफा खतरों के बीच की राष्ट्रीय आत्म-मुग्धता

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि हमारे राष्ट्र के सामने चौतरफा खतरा मँडरा रहा है। खतरे के स्रोत कई हैं, मूल प्रभाव राष्ट्र को कमजोर करने का है। ऐसे कई वर्ग हैं जिनका घोषित उद्देश्य राष्ट्र को तोड़ना है। कुछ मूर्खतावश, जाने-अनजाने, इस षड्यंत्र में शामिल हैं।

आज से लगभग आठ वर्ष पहले लश्कर-ए-तोयबा के प्रमुख हाफिज मुहम्मद सईद का लाहौर से वक्तव्य आया था कि “जिहाद का सम्बन्ध सिर्फ कश्मीर से नहीं है। अब से 15 वर्ष पहले अगर कोई सोवियत संघ के विघटन की बात करता तो उसका मजाक ही तो उड़ाया जाता। आज मैं हिन्दुस्तान के विघटन की घोषणा करता हूँ। इंसा अल्लाह जब तक पूरा हिन्दुस्तान पाकिस्तान में मिल नहीं जाता तब तक हम चैन से नहीं बैठेंगे।”

दूसरा वक्तव्य नेपाल से आया है। उसके माओवादी नेता प्रचण्ड ने स्पष्ट घोषणा की है कि माओवादियों का लक्ष्य “भारत के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध चलाना है”। इस वक्तव्य की गंभीरता को समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि हमारे भारतीय माओवादी भी कश्मीर तथा पूर्वोत्तर में अलगाववाद का समर्थन करते हैं; प्रचण्डवादियों के नेपाल में सशक्तीकरण में भारत की विशेषतः भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माक्सिस्ट) की गलत राजनीति तथा भारतीय समाचार माध्यमों का बहुत बड़ा हाथ रहा है; स्वयं प्रचण्ड के निर्माण में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, अतः प्रकारान्तर से भारतीयों के पैसे का योगदान रहा है। ध्यातव्य है कि मणिपुर में अलगाववाद की शुरुआत, आजादी के ठीक बाद, हिजम इराबत सिंह द्वारा की गयी थी, जो कम्युनिस्ट थे।

हमारी पूर्वी सीमाभारत बांग्लादेश की सीमापर पश्चिम बंगाल में पाकिस्तानी खुफिया संगठनआई.एस.आई. की सहायता से जमात-ए-इस्लामी, हुजी, इस्लामिक छात्र शिबिर एवं जाग्रत मुस्लिम जनता आदि जिहादी संगठनों के प्रशिक्षण कैंपों के खुलने के समाचार आये हैं। ये कैंप उनके अतिरिक्त हैं, जो बांग्लादेश की भूमि पर दशकों से भारतीय आतंकवादी संगठनों के संरक्षण एवं सहायता एवं उनके सदस्यों के प्रशिक्षण के लिए चल रहे हैं। बांग्लादेश की इस देश के पूर्वोत्तर एवं पश्चिम बंगाल एवं बिहार के कुछ भूभागों को हड़पने की मुहिम जारी है। लगभग दो करोड़ बांग्लादेशी घुसपैठिए इस देश में आ चुके हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार पर्यावरण के बदलाव के कारण लगभग साढ़े सात करोड़ बांग्लादेशी भारत में आ सकते हैं। बांग्लादेश के संदर्भ

में इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि आये दिनों देश में हो रहे जेहादी विस्फोटों, एवं नकली नोटों के कारोबार में बांग्लादेशियों की संलिप्तता के भी प्रमाण मिले हैं। इधर बांग्लादेश एवं नेपाल की सीमा से लगे बिहार के कटिहार, पूर्णिया एवं किशनगंज जिलों में तथा झारखण्ड के गुमला एवं लतेहर जिलों में अफीम की खेती पकड़ी गयी है, जिसमें बांग्लादेशियों की संलिप्तता की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। उल्लेख्य है कि नशीले पदार्थों का उत्पादन तथा तस्करी आतंकवादी अर्थ-व्यवस्था का अंग रहा है। तालिबान समस्याग्रस्त अफगानिस्तान में अफीम की खेती धड़ल्ले से होती थी। खतरा केवल बांग्लादेश से ही नहीं है। चीन अरुणाचल प्रदेश पर अपना अधिकार जताता है; उसे अपने मानचित्र पर अपने राष्ट्र का अंग दिखाता है।

ध्यातव्य है कि खतरा केवल बाहरी ही नहीं है; आन्तरिक भी है। इस देश में चीन, पाकिस्तान, बांग्लादेश समर्थक लोगों/संगठनों की कमी नहीं है। कम से कम पिछले तीन दशकों से हम बांग्लादेशियों के हित की लड़ाई अपनी भूमिब्रह्मपुत्र घाटी में अपने ही लोगों तथा देश के विरुद्ध लड़ रहे हैं। बांग्लादेशियों को विभिन्न स्तरों से मिलनेवाला सहयोग आश्चर्यचकित करने वाला है। इस देश में बांग्लादेशी जितना सुरक्षित है, उतना भारतीय नागरिक नहीं। असम में उल्फा/आई.एस.आई. प्रायोजित हिंसा जारी है; मुम्बई में राज ठाकरे के गुण्डों ने जो कुछ किया, लगभग उसी समय मणिपुर के आतंकवादियों ने चार हिन्दीभाषियों को मार डाला। शीला दीक्षित तथा मदन लाल खुराना के वक्तव्य राज ठाकरे के कथनों से कम खतरनाक नहीं थे और न चण्डीगढ़ में कुछ पहले दो दिन चले सेमिनार में व्यक्त विचार। इन सबका प्रभाव भारत को भावनात्मक रूप से कमजोर करने तथा तोड़ने का है; चाहे ऐसा जानकर हो रहा हो या अनजाने। चुनाव आयोग को राज ठाकरे जैसे राजनीतिकों के असंवैधानिक कार्यों पर लगाम लगाने का काम अब तो करना ही चाहिए।

अभी पिछले दिनों भारत के वजट में किसानों के कर्ज माफी का प्रावधान किया गया है। इसमें लगभग साठ हजार करोड़ रुपये खर्च होंगे। इससे अनगिनत जरूरतमंद किसानों को लाभ होगा; कुछ ऐसे लोगों को भी जो कर्ज देने में सक्षम हैं; किन्तु ऐसे अत्यन्त गरीब किसानों को तो बिल्कुल ही नहीं जो स्थानीय लोगों से कर्ज लेते हैं, एक मन अन्न लेकर 3-4 महीने बाद दो मन लौटाते हैं। स्पष्टतः इस तरह के सरकारी, तदर्थ प्रयास से लाभ उनको नहीं पहुँचता जिन्हें इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। इसका दुखद पक्ष यह भी है कि ऐसा इस प्रकार की अन्य योजनाओं के साथ पहले भी होता रहा है। यह आवश्यक है कि सरकार अपनी पूरी संवेदना के साथ तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के बाद ही इस प्रकार का कोई कदम उठाए; महज थोक वोट को दृष्टि में रखकर जल्दबाजी में नहीं।

इस देश में भावनात्मक अलगाव के प्रयासों के विरुद्ध लड़ाई इस लिए भी जरूरी है क्योंकि इससे आतंकवादी संगठनों की इस सोच को बल मिलता है कि भारत

धीरे धीरे कमजोर होकर अवश्य टूटेगा। उल्फा, नागा अलगाववादियों एवं जेहादी भारत के टूटने के अपने विश्वास को छिपाते नहीं। इस विश्वास से उन्हें अपना गलत कार्य चलाते जाने की प्रेरणा मिलती है।

जम्मू कश्मीर में हम विभिन्न कार्य-समूहों, ट्रेक 2 राजनयिकों एवं पत्रकारों की सहायता से शांति बहाली के प्रयास में लगे हैं। राज्य में असैन्यीकरण, संयुक्त व्यवस्था एवं खुली सीमा की तरफ बढ़ते जाने का प्रयास चल रहा है। इस प्रयास के कमजोर पक्ष भी हैं। जैसे: (क) शान्ति बहाली की प्रक्रिया के प्रति राष्ट्र को जानकारी नहीं देना; (ख) पाक अधिकृत कश्मीर को असैन्यीकरण एवं संयुक्त व्यवस्था के दायरे से बाहर रखना; (ग) ऐसे लोगों को, जो खुले आम जम्मू-कश्मीर की आजादी की बात करते हैं, महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठाना; (घ) भारत सरकार के “वास्तविक”/डिफैक्टो सलाहकार वजाहत हबीबुल्ला द्वारा राज्य में पाँच विधायिकाओं/परिषदों के गठन की आड़ में जम्मू एवं लद्दाख के सांप्रदायिक विभाजन की वकालत करना; (ङ) शान्ति प्रक्रिया का मुशरफ की चार-सूत्री योजना के अनुरूप एवं साम्प्रदायिक दृष्टिवाले लोगों के मनोनुकूल आगे बढ़ाना; (च) राज्य में साम्प्रदायिक सौहार्द की बहाली का अभाव एवं कश्मीरी पंडितों की समस्या की अनदेखी। स्पष्टतः सब कुछ ठीक-ठाक नहीं चल रहा है। जम्मू-कश्मीर में चल रही खतरनाक पहल के संकेत शुभ नहीं हैं। भारतीय नेतृत्व को अपनी थकावट से उबरकर नयी पहल करनी चाहिए। यदि दबाव अमेरिका का है, तो उसका भी सामना किया जाना चाहिए।

आज यदि हम राष्ट्र की समस्याओं पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि प्रायः हर समस्या के सूत्र कहीं न कहीं हमारे समाचार माध्यमों से भी जुड़े हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि हमारे भाषायी समाचार माध्यम अपनी गैर जिम्मेदारी तथा सम्पादकों एवं पत्रकारों की काहिली के चलते हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का स्वरूप बिगाड़ रहे हैं। हिन्दी अखबारों में अंग्रेजी का कोई भी शब्द, बिना इस बात का ध्यान दिए कि उसके लिए हिन्दी में शब्द हैं भी या नहीं, प्रयुक्त होता है, जो उचित नहीं है। फिर तकनीकी एवं वैज्ञानिक शब्दावली आयोग ने शब्दावली निर्माण का काफी काम किया, जिसका विलकुल प्रयोग नहीं किया जाता। नियमतः किसी भाषा में प्रयुक्त अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग शब्द ग्रहण करनेवाली भाषा के व्याकरण के अनुसार होना चाहिए। किन्तु होता यह है कि अंग्रेजी के बहुवचन में प्रयुक्त शब्दों का देवनागरी लिप्यान्तरण कर हिन्दी के बहुवचन शब्दों की ही तरह प्रयुक्त किया जाता है। नीचे हिन्दी समाचार पत्र ‘दैनिक जागरण’ (4-12-07) के मात्र एक पृष्ठ पर प्रयुक्त कुछ वाक्यों/वाक्यांशों/शब्दों को देखकर स्थिति की भयावहता का पता चल जाता है:

‘कंज्यूमर गुड्स हो या लग्जरी कार, फैशनेबल परिधान हों या बेहतरीन फर्निचर, आकर्षक ज्यूलरी हो या मोबाइल फोन इन्हें लुभावने अंदाज में डिजाइन करते

हैक्रिएटिव डिजाइनर्स'। 'यह साइट जॉब तलाशने वालों, रिक्रूटर और जॉब कर रहे लोगों के लिए काफी उपयोगी है'। डिजाइन कॉलेज से पास आउट होने वाले डिजाइनर्स की हर इंडस्ट्री में भारी मांग, पोर्ट्रेट, फाइनल, आउटपुटए खास शॉप के डिस्प्ले सेट से लेकर परचेज प्वाइंट तक रिटेल आउटलेट, क्रिएटिविटी, टीम स्पिरिट, मार्केटिंग प्रोफेशनल्स, टेक्निकल एक्सपर्ट, मैनुफैक्चरिंग कंपनियाँ, इंडस्ट्रियल डिजाइनर्स, होर्डिंग्स, बैनर्स, पोस्टर्स, प्रिंट, डाइंगपैटर्न, मॉल्स, शॉपिंग मॉल्स, सुपर स्टोरए इंटीरियर डिजाइनर, फैशन डिजाइनर, ऑटोमोबाइल डिजाइनर, ग्राफिक डिजाइनर, करियर की प्लानिंग, इंडस्ट्रियल डिजाइनर्स, प्रिंट हाउस, हैंडलूम इंडस्ट्री, गार्मेंट एक्सपोर्ट, टेक्स्टाइल मिल, इंडस्ट्रीज, कॉरपोरेशन्स, कंसल्टिंग फर्मर्स, मैनुफैक्चरिंग, एपैरल, फैशन सेक्टरर्स, टेक्स्टाइल डिजाइनर्स।

स्पष्टतः हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों की जिस तरह की घुसपैठ चल रही है, उससे यह आशंका हो रही है कि आने वाली पीढ़ी अपनी बौद्धिक सम्पदा - साहित्य, संस्कृति, भाषा आदि - की समझ शीघ्र खो देगी। एक तो वह पढ़ना नहीं चाहती, परीक्षा में चोरी नहीं करने देने पर तोड़-फोड़ करती है, परीक्षकों की हत्या करती है; फिर उसे अपने देश, समाज, इतिहास के गलत पाठ पढ़ाए जाते हैं। इसके ऊपर हिन्दी लेखकों, पत्रकारों, सम्पादकों का उनसे अपनी भाषा छीनने का घृणित कार्य।

एक अन्तिम प्रश्न: क्या नागरिक समाज के अपनी आत्म-मुग्धता से उबर कर इन समस्याओं पर ध्यान देने का समय अभी तक नहीं आया है?

**ब्रज बिहारी कुमार**



# सूर्योदय के देश (जापान) में अधिष्ठित हिन्दू देव-देवियाँ

लोकेशचन्द्र \*

अनुवादक-बाबूराम वर्मा

1936 की ठण्डी शिशिर ऋतु, दो जापानी विद्यार्थी संस्कृत का अध्ययन करने मेरे पिताश्री प्रो. रघुवीर के पास लाहौर आए। दोनों बौद्ध धर्म के शिंगोन मतानुयायी थे, जिसमें महायान और मन्त्रयान अथवा तन्त्रों का ज्योतिर्मय देवमण्डल, शाक्यमुनि बुद्ध से विकसित होते पारगामी बुद्ध और अनेक बोधिसत्त्वों के अतिरिक्त वज्रकुल के अनेक देवी-देवता और कर्मकाण्ड का सम्पन्न भण्डार भी मिलता है। शिंगोन सम्प्रदाय संस्कृत मन्त्रों और मुद्राओं से होम (जापानी गोम) प्रज्वलित करता है और उसमें गतिशील हिन्दू धर्म के पूर्वतर अन्य तत्त्वों की छाप भी मिलती है। शिंगन धर्म की जड़ों, नैरन्तरिक रूपों और विचारों का विश्वनाटक, वैचारिक दृश्यपट, प्रकाश के ऐतिहासिक मूल्यों और “अन्दर बसी” शक्ति की सर्जना को विश्वासपूर्वक लेकर चलता है। मेरे पिताश्री को रचनात्मक परिश्रमशीलता में लगे ज्वलन्त नियति वाले जापान से प्रेम था। उन्हें जीवन में उनकी इस लगन से प्रेम था जिससे वे आश्चर्य अभिभूत थे। उन्होंने अपने शिष्य यामामोतो चिक्यो से मुझे जापानी भाषा सिखाने का अनुरोध किया। पहले पाठ—‘अ इ उ ए ओ का कि कू के को’ ने ही मुझे दोनों संस्कृतियों की समानताओं पर पहुँचा दिया और मैंने पिता जी से कहा “हम और जापानी तो भाई-भाई हैं।” जापानी वर्णमाला अपने अनुक्रम में संस्कृत वर्णमाला से बहुत मिलती-जुलती है। ये रूप उस सुदूर अतीत में हमारे समक्ष जादूभरी सृजनशीलता लाते हैं जो अब भी जीवंत बनी हुई है। काव्यजगत में सहभागी होने के कमनीय सपने हैं ये मुखरित स्वराक्षर; ये लेखन-वैभव के नए पथों को आलोकित करते हैं।

जापान में फूदो या अचलनाथ होम के संरक्षक देवता हैं। यामामोतो के पास प्रज्वलित लपटों वाले प्रभामण्डल से धिरे, ओजस्वी मानव हृदय के कलुष को ध्वस्त करते फूदो का पटचित्र था। नौ वर्ष का बालक तब मैं विनाश-लीला करते इस अग्निदेव

\* भारतीय संस्कृति के गहन अध्येता, विशिष्ट विद्वान; पूर्व सांसद।

को देख चकित होता था। जीवन में जो कुछ भी अहितकर है उसे यह जड़मूल से नष्ट करती विवेक की अग्नि की प्रतिमा बनाने का प्रयास था। मेरे पिताश्री ने उस पटचित्र को श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक 11, 17 से सम्बद्ध किया है—

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्  
दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् ॥

अग्नि की अनन्त लपटों से घिरे भगवान से। भारत की गहरी जड़ें अग्नि देव में निहित हैं, इसी शब्द से ऋग्वेद आरम्भ होता है *अग्निमीडे*, अग्नि को नमन करता हूँ, प्रकाशित करती अग्नि, समूचे जीवन को प्रभावित करती, उसे नित नया बनाती रहती अग्नि को नमन है यह। फूदो। अचल भी सम्पन्न सृजन की अग्नि है।

यामामोतो के पास एक पवित्र काष्ठचित्र (जापानी मोकवन) भी था जिस पर गर्मधातु, और वज्रधातु मण्डलों में प्रयुक्त मुद्राओं के चित्र बने हुए थे जिन्हें सामान्यतः होम और अठारह पग संचलन कर्मकाण्ड में व्यवहार किया जाता है। जापानी में यह *ताई-कोन-गो-जुहाची-इन-जू...* है। यह 1779 में काष्ठखण्डों से मुद्रित किया गया था। शिंगन कर्मकाण्ड का आरम्भ विनायक या गणेश की दो मुद्राओं से किया जाता है। ये मुद्राएँ पहचान की देहरी हैं और उन प्रेरणा-स्रोतों को पुनर्सर्जित कर देती हैं जिन्होंने हमारे मन और जीवन, हमारे आन्तरिक संश्लेषण को प्रभावित किया है, जो सुख और दुःख, दोनों किनारों पर उपस्थित रहकर उनसे हमारा वार्तालाप कराते रहते हैं।

बौद्ध धर्म की मजबूत जड़ें जापान में साम्राज्ञी सुईको (राज्य 593-628) के शासनकाल में जमीं। राजकुमार शोतोकु को 593 में संरक्षक नियुक्त किया गया। उन्होंने बारह दरबारी पदों की प्रणाली का पुनः संस्कार किया और 604 में 17 धाराओं वाला संविधान भी तैयार किया जिसमें जनता का न्याय करने के राजनैतिक अधिकार सिद्धान्ततः सीधे सम्राट में केन्द्रित कर दिए गए। इस संविधान से दूरगामी परिवर्तन भी सुविकसित हुए: धारा 1 समरस वैयक्तिक सम्बन्ध, धारा 2 राज्य के मार्गदर्शक सिद्धान्तों के रूप में बौद्ध धर्म था त्रिरत्न, धारा 5 जनता की शिकायतों की उचित सुनवाई और उनका न्याय, धारा 16, किसानों की अच्छी तरह से देखभाल, धारा 17, महत्त्वपूर्ण निर्णयों में अनेक लोगों की राय ली जानी और धारा 12 से स्थानीय सामन्तों द्वारा अनुकम्पा बिना लोगों पर कर न लगाया जाना आवश्यक बनाया गया।

संरक्षक पद ग्रहण करने पर राजकुमार शोतोकु ने ओसाका में *शितेन्जो* या चतुर्देवराज विहार स्थापित किया। यह सुवर्णप्रभासोत्तम सूत्र के छठे अध्याय पर आधारित था। सुवर्ण सूत्र राज्य की संप्रभुता सुरक्षित करने वाला महत्त्वपूर्ण बौद्ध सूत्र है। शासन की गतिशीलता राजा, उसकी जनता और उन मूल्यों को प्रतीकीत करते देवताओं में निहित हैं जो अर्थव्यवस्था की सुरक्षा पर प्रभाव डालते और प्राकृतिक आपदाओं, रोगों और युद्धों की रोकथाम करते हैं। भगवान बुद्ध राजकुल के थे और उनका धर्म राजा

बिंबसार और प्रसेनजित के संरक्षण में बढ़ा, फला-फूला। अतः स्वाभाविक था कि उसके सूत्र राज्य का आधार ही बन गए और एक सहस्राब्दि उपरान्त उनसे जापान में राज्य सुरक्षा के रीति-रिवाजों का काम लिया जाने लगा। 606 में साम्राज्ञी सुईको ने राजकुमार शोतोकु से इन तीन सूत्रों पर प्रवचन करने का निवेदन किया : सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र, कमल सूत्र और शोमांग्यो सूत्र (श्रीमाला देवी-सिंहनाद सूत्र)। राज्योत्सवों में सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र की केन्द्रीय भूमिका रहने से राजकीय और जनता दोनों के उत्सवों में हिन्दू देवियों, सरस्वती और श्री (या लक्ष्मी) दूर-दूर तक प्रचलित हो गईं। सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र का अध्याय 7 सरस्वती को और उससे अगला अध्याय 8 श्री महादेवता को समर्पित है। पाँच देवियों में से केवल यही दो देवियाँ ऐसी हैं जिन्हें इन सम्प्रदायों में विशेष प्रधानता दी गई है।

सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र के प्रारम्भिक अध्याय में सूत्र का निदान बताया गया है। तथागत पाँच महादेवताओं (देवियों) से घिरे गृध्रकूट पर्वत पर विराजमान हैं। इनमें से हरेक का अपना-अपना सुरक्षा देने का कार्य है जैसे शाक्यमुनि के कुल की रक्षा देवता, राज्य की रक्षक देवता पृथ्वी, विद्या की रक्षक सरस्वती, फलती-फूलती अर्थव्यवस्था की रक्षक श्री (लक्ष्मी) और प्रतिरक्षण की देवी हारीति।

सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र तीन देश रक्षा सूत्रों (गोकको-क्यो) में से था और सम्राट शोपु (रा. 724-749) ने 741 में आदेश दिया कि आपदाओं, महामारियों और दुख-कष्टों से रक्षा के लिए सभी प्रान्तों में इस सूत्र का पाठ किया जाए। महामहिम ने आदेश दिया कि प्रत्येक प्रान्त में 17 मंजिला स्तूप निर्मित किया जाए और उसमें इस सूत्र की दस प्रतियाँ रखी जाएँ। प्रत्येक स्तूप में प्रतियाँ रखाई जाने के लिए स्वर्णाक्षरों में उसकी प्रतियाँ लिखाकर तैयार कराई गईं।

तोदईजी विहार के इतिवृत्तों में कहा गया है कि श्री (लक्ष्मी) और सरस्वती का पूजोत्सव प्रथम बार इसी बिहार में 722 में आयोजित किया गया। तबसे यह उत्सव प्रतिवर्ष वहाँ होता चला आ रहा है। सरस्वती का प्रतिनिधित्व दो रूपों में किया जाता है। शान्त रूप में वह वीणा लिये हुए है। क्रोध रूप में वह अष्टभुजा है और ये आयुध धारण किए हुए हैं, धनुष, वाण, असि, त्रिशूल, परशु, वज्र, चक्र और पाश। तोदई जी की सरस्वती अष्टभुजा है। 954 में एक सर्वग्रासी आग लगी और वह उसमें भष्म होकर श्वेताभ मृण्मयी वर्ण की बन गई जिससे पता चला कि मूर्ति बिना पकाई मिट्टी से बनाई हुई थी। प्रतिमा 65 फुट की है। प्रचुर फसल प्राप्ति के लिए सरस्वती और लक्ष्मी की पूजा लोकप्रिय है। बारहवीं शताब्दी में शिनकाकु द्वारा लिखित “देवताओं का वर्णन” में या बेस्सोने-जी में उसका मन्त्र ‘सरस्वत्यै स्वाहा। नमो सरस्वत्यै महादेव्यै स्वाहा। नमो भगवती महादेवी सरस्वती। सिद्धयन्तु मन्त्रपदानि स्वाहा।’ दिया हुआ है।

1212 तिथ्यांकित अष्टभुजा सरस्वती का एक चित्र ललितकला विश्वविद्यालय, तोक्यो में सुरक्षित है। यह चित्र इस देवी के उत्तम चित्रों में से है।

सरस्वती का प्राचीनतम मन्दिर जिसका आरम्भ 834 में भिक्षु एनिन ने किया चिकुन बुशिमा का है। मियाकोनो योशिको (824-879) जैसा प्रसिद्ध कवि प्रेरणा पाने की इस मन्दिर में दर्शन करने आया था और कहा जाता है कि सरस्वती ने स्वप्न में उसे दर्शन देकर स्वयं उसे कविता पंक्तियाँ प्रदान की।

12वीं शताब्दी में मिनामोतो और तायरा कबीले प्रभुत्व प्राप्ति के लिए आपस में लड़ रहे थे। तायरा कबीले के त्सुनेमासा ने जो अच्छा कवि और संगीतज्ञ था तथा ताजिमा का राज्यपाल भी, चिकुबुशिमा मन्दिर की तीर्थयात्रा की। अपने शत्रुओं को हराने के लिए वह रातभर सरस्वती की उपासना करता रहा।

प्रधानमन्त्री फुजीवारानो मोरोनागा (1177) वीणावादन में सिद्धहस्त था, उसकी उपाधि म्यूनिन थी (म्यु सरस्वती का विरुद है)।

चिकुबुशिमा का नोह नाटक सरस्वती पूजा करने चिकुबुशिमा की तीर्थयात्रा पर जा रहे एक दरबारी से आरम्भ होता है। यह इस देवी की दूर-दूर तक लोकप्रियता का सूचक है।

16वीं शताब्दी में *शिशीफु कुजिन* अर्थात् 'सात भाग्यदेवियाँ संप्रदाय' का उदय हुआ। इसमें सरस्वती धनदा देवी है। इसका जापानी नाम 'बेनजाइतेन' है जिसमें *जाई* का अर्थ बुद्धि है, किन्तु इसकी जगह दूसरा भावचित्र *जाई* रखकर पढ़ा गया जिसका अर्थ 'सम्पत्ति' होता है। क्योतो की वह इसी से सर्वाधिक लोकप्रिय देवी बन गई और वहाँ उसके अनेक मन्दिर हैं।

बहुत-सारी सन्त जीवनियाँ, स्तोत्र और सूत्र सरस्वती पूजा और उससे होते लाभ बताने के लिए रचे गए। जब एनिन 834 में नेत्र कष्ट से पीड़ित हुआ तो सरस्वती ने स्वप्न में आकर उसे दर्शन दिए, औषधि और अपनी काष्ठ प्रतिमा प्रदान की। जागने पर उसे काष्ठ प्रतिमा और औषधियाँ मिलीं जिनसे वह नीरोग हो गया। ये अचेतन मनोवैज्ञानिक मूल्य मन और शरीर से जुड़ जाते हैं इससे रोगमुक्ति की धारणा बलवती बनती है।

1836 में साइतो साशियो ने एडो क्षेत्र आधुनिक तोक्यो की मार्गदर्शिका लिखी। सरस्वती वहाँ की सबसे अधिक लोकप्रिय देवी थी। उसने तोक्यो के निकट मिताका द्वीप में स्थित उसके शरण्य का वर्णन किया। 1335 में निता पोशिशदा ने हौजौ घराने का नाश करने के लिए उसकी आराधना की।

1832 में साहतो गेशिशन ने एडो के वार्षिक उत्सव का वर्णन करती *तोतो साइजिकी* की रचना की। उसने तोक्यो क्षेत्र में बने 131 सरस्वती मन्दिरों की सूची दी है।

1934 में महीयसी चिबेन सोन्तयो को ऐसा लगा कि सरस्वती उनके शरीर में प्रविष्ट हो गई है और उन्होंने संस्कृत में लिखना आरम्भ कर दिया जिसका उन्होंने कभी अध्ययन तक नहीं किया था। उन्होंने *बेनतेन-शू* सरस्वती संप्रदाय की स्थापना की और यह सम्प्रदाय जल को पावन मानता है क्योंकि उसमें सरस्वती देवी का निवास है।

सरस-वती के शाब्दिक अर्थ (1) तडाग, झील या बल के समूह वाली (2) गान्धार की एक नदी (3) एक विशाल नदी जो कभी विस्तृत ब्रह्मावर्त क्षेत्र में प्रवाहित थी (4) जीवन शक्ति, प्रसिद्धि और सम्पत्ति देने को आह्वान की जाने वाली (5) वृत्र दैत्य विनाशिनी तथा (6) बुद्धि और ज्ञान की देवी होते हैं। जल से उसका सम्बन्ध वैदिक युग जितना प्राचीन है। निघंटु में प्रत्येक नदी को सरस्वती कहा गया है। जापान में सरस्वती से सम्बद्ध किए अनेक कार्यों का सम्बन्ध हिन्दू स्रोतों से जुड़ा है जो जनता और शिष्ट जनों की लोकप्रिय कल्पनाओं पर आश्रित है।

1970 में मैं जापानी भाषा, साहित्य, कला, इतिहास के अपने गुरु चिक्यो यामामोतो के साथ कोयसान में ठहरा। अपने रसोईघर में उन्होंने किसी अज्ञात भिक्षु द्वारा निर्मित मोटी रूपरेखाओं से बनाया अष्टभुजा सरस्वती का सुन्दर रेखाचित्र लगा रखा था। यह उस संसार के प्रति एक सरल प्रत्यक्ष आकर्षण था जिसकी जागरूकता शाक्यमुनि बुद्ध के पिता शुद्धोदन के नाम में निहित प्रतीकवाद से प्रभावित है। शुद्धोदन का अर्थ ही शुद्ध भोजन होता है। भाषाओं की सीमा का अतिक्रमण कर यह सजीव जड़ों से जुड़ा हुआ कंपन है जो अर्थ के प्रतीकवाद में रूपान्तरित हो गया था। स-रसवती रसोईघर में किसलिए? क्योंकि रसवती का अर्थ ही 'रसोईघर' होता है और स है उपसर्ग इस तरह यह देवी रसोईघर से जुड़ जाती है।

सरस्वती जापानी भाषा में अभी भी सौभाग्य की सात देवियों अर्थात् *शिशी फुक जिन* में से एक होने से बहुत लोकप्रिय है। उन सात सौभाग्य देवियों में एकमात्र वही ऐसी देवी है जिसे अपने संगीतवाद्य *बीवा* या *वीणा* से पहचाना जाता है। पेशेवर संगीतज्ञों में हेई युग में उसके सबसे ज्यादा अनुयायी हुआ करते थे। दरबारी संगीतज्ञ जो वीणावादन किया करते थे पहले समय अविवाहित रहते थे क्योंकि यदि उनका विवाह हो जाता तो सरस्वती को ईर्ष्या होती और उनकी संगीत योग्यता समाप्त हो जाती। विवाहित जोड़े उससे प्रार्थना किया करते कि वह उन्हें सुन्दर कन्या प्रदान करें। निःसन्तान दम्पतियों को सन्तान-प्राप्ति का वर भी वह देती थी। वह लेखकों, संगीतज्ञों, गेइशाओं, चित्रकारों 'मूर्तिकारों और अभिनेता'—कलाकारों की अधिष्ठात्री है। चिकीबु-सीमा द्वीप में अवस्थित सरस्वती की आज भी सबसे ज्यादा उपासना की जाती देवी है। एनोशीमा द्वीप की *हदाका-बेनतेन* अर्थात् निर्वस्त्रा सरस्वती दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। वह वस्त्र धारण नहीं करती क्योंकि इस द्वीप के आस-पास समुद्र की हवा आर्द्र गरम रहती है और उससे कपड़ों का रंग फीका पड़ जाता है और मूर्ति पर धब्बे पड़ जाते हैं। इसे श्वेत रंग से चित्रांकित किया जाता है और धब्बे पड़ जाने से इसकी पावनता कलंकित हो जाएगी। भारत में दुर्गा भी दिगम्बरी कही जाती है और शिव भी यहाँ दिगम्बर या दिग्वसन ही हैं। इन दोनों का अर्थ "आकाश ही जिसका वसन है" अर्थात् 'निर्वसन' ही होता है।

हिन्दू देवताओं का जापान में पारगमन दो सूत्रों अर्थात् (1) सुवर्णप्रभासोत्तम सूत्र

और (2) महावैरोचन सूत्र के माध्यम से हुआ। प्रथम सूत्र का रूपान्तर 414-421 के मध्य धर्मरक्ष ने किया, पाओ कुए ने 597 में इसका संश्लिष्ट पाठ संकलित किया और ईत्सिंग ने ह्सि-मिङ् बिहार (के 127) में रहते हुए 703 में इसका अन्तिम पाठ स्थिर किया। ईत्सिंग को रूपान्तर करे का आदेश साम्राज्ञी वू ने दिया था इसलिए उसका शीर्षक *कौक्वोम्यो-सायशो-ओ-क्यो* अर्थात् 'कोन् = सुवर्ण, *क्वोम्यो* = भासोत्तम, *सायशो* = विजयन्त या इन्द्र, ओ = राजा, *क्यो* = सूत्र' रखा जाना उचित ही था। यह इसके संस्कृत शीर्षक सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र ऐन्द्र राज का सम्पूर्ण रूपान्तर है। देवताओं के राजा इन्द्र को विजयन्त भी कहा जाता है जिसका रूपान्तर चीनी में *सायशो* किया गया। इस सूत्र का शीर्षक साम्राज्ञी के लिए सौभाग्यप्रद था और जापान में राज्य, राजा और प्रजा को उन सभी वस्तुओं का, जो भी उन्हें चाहिए, आशीर्वाद देने के लिए यह अधिकृत पाठ बन गया। सुवर्ण प्रभास सूत्र ने जापान में इन हिन्दू देवियों, सरस्वती और श्री (लक्ष्मी) को, जो पाँच महादेवियों में मानी जाती थीं, पहुँचाया जिन्होंने बोधिसत्त्व सिद्धार्थ से भगवान शाक्यमुनि के रूप में बोधि प्राप्त करने के मार्ग पर जाते समय उन्हें अपना आशीर्वाद दिया था। सुवर्णप्रभास सूत्र का आठवाँ अध्याय श्री महादेवी को समर्पित है। उनका कथन है कि जब कोई इस अत्युत्तम सुवर्ण प्रभास सूत्र का नाम मन-ही-मन भी उच्चारित करेगा, वे उस पर ध्यान देंगी और उसे भाग्यवान बनाएँगी (महर्षि श्रीयं करिष्यति सुवर्ण 115)। इस सूत्र की शक्ति से वे उसके निवास की रक्षा करेंगी, उसके धनधान्य में वृद्धि करेंगी, स्वर्ण, मणिमणिक, सम्पत्ति से उसे भरपूर करेंगी तथा सभी तरह के आशीर्वाद उसे उपलब्ध कराएँगी। चीनी अनुवाद में कहा गया है कि श्री उत्सव करने से अनन्त आनन्द सभी वृद्धियों की नींव और लाभप्रद पुण्यदायी सभी अलंकरण प्राप्त हो जाते हैं।

739 में सम्राट शोमू ने एक अध्यादेश जारी किया कि श्री उत्सव (जापानी में किशीजो-तैन) समूचे साम्राज्य में मनाया जाए ताकि वायु और वर्षा हितकारी रहें और फसलें भलीभाँति पकें। श्रीदेवी प्रचुर फसलें होने का वचन देती है और सुवर्णप्रभास के आज्ञाकारी पाठकर्ताओं को कभी अकाल का सामना नहीं करना पड़ता। 749 में सम्राट ने पुनः यह उत्सव मनाए जाने का आदेश दिया और हर जगह जीवहत्या निषिद्ध कर दी। साम्राज्ञी कोकेन ने अपने पिता सम्राट शोमू की इच्छाओं का पालन किया और राज्य के सभी प्रान्तों के मन्दिरों में उत्सवों का मनाया जाना जारी रखा। महान बौद्ध विहारों के वरिष्ठ भिक्षुओं ने सुवर्णप्रभास सूत्र जनता को समझाया और विहारों में श्री उत्सव सम्पन्न कराए। भिक्षुओं, मन्त्रियों और सरकार के उत्साह के फलस्वरूप त्रिरत्न ने सतरंगी बादल के रूप में सौभाग्यसूचक शगुन प्रकट किया। 771 में सम्राट कोनिन ने देश में श्री उत्सव मनाना बन्द कर दिया जिसके परिणामस्वरूप आगामी वर्षों में राज्यभर में भारी और निरन्तर अकाल पड़े। तब उसने श्री उत्सव मनाना पुनः प्रचारित किया। सभी मठों के बौद्ध भिक्षु सरकारी कार्यालयों में सम्राट गो रेईजेइ के राज्यकाल (1036-

68) तक मनाते रहे। श्री उत्सवों के कारण राज्य भर में पूरी तरह से शान्ति बनी रही, हवाएँ और वर्षा ठीक मौसम में हुई, पाँचों प्रकार के अन्न पके, प्रजा आनन्द से रही, और दशों दिशाओं के लोगबाग भले और सन्तुष्ट बने रहे। पावन सूत्रराज *सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र* में निष्ठापूर्वक विश्वासकर्ताओं की सबसे बड़ी रक्षा करने वाली देवी श्री ही थी।

शोकु निहोंगी आलेखों के राजकीय इतिवृत्त में लिखा मिलता है कि 749 में जारी किए गए अभिलेख से देश के सभी विहारों में 49 दिनों तक चलने वाला श्री संगम या मेला लगाया जाने लगा जिसकी शुरुआत नए वर्ष के प्रथम दिन से होती थी। 767 की एक अन्य प्रविष्टि सात दिनों तक चलने वाले लक्ष्मी उत्सव सभी प्रान्तीय विहारों (कोकुबुनजी) में मनाए जाने का राजादेश दिया जाना बताती है ताकि देश में उसके आशीर्वाद से शान्ति बनी रहे, वर्षा समय पर हो, भरपूर फसलें मिलें, लोगों में सदभाव और आनन्द बना रहे। 768 में प्रधानमन्त्री कार्यालय ने नियत किया कि श्री उपासना देश के प्रत्येक विहार में कराई जानी चाहिए। श्री के पटचित्र पूजा-अर्चा के लिए प्रान्तीय मन्दिरों में बँटवाए गए। नारा के याकुशीजी विहार का श्री पटचित्र अभी तक नारा के तोदाईजी विहार के होक्केदो मन्दिर की प्रतिमा तब से इस समय तक वहाँ विद्यमान है। ताङ् दरबार के राजदूत सुगवारानो कियोतोमो को 804 में देश वापस लौटते समय भारी तूफान का सामना करना पड़ा था। इसलिए उन्होंने श्री की आराधना की, वह आकाश में प्रकट हुई और तूफान थम गया। लौटने पर उन्होंने उसका मन्दिर बनवाया। सामंत वर्ग में वह बहुत लोकप्रिय बन गई। भिक्षु और भिक्षुणियाँ जब लापरवाह बन गए तो श्री उत्सव 822 से प्रान्तीय विहारों के बजाय सरकारी कार्यालयों में आयोजित किए जाने लगे। क्योतो का किशोइन विहार का श्री मन्दिर 1712 जितने बाद के समय तक सक्रिय बना रहा। जापानी उपन्यास *गेंजी मोनोगतारी* में अभिजात वर्ग में श्री की लोकप्रियता बने रहने का उल्लेख मिलता है। यह उपन्यास 1000 के आस-पास लिखा गया। 12वीं शताब्दी के कोंजाकु मोनोगतारी नामक कथा संग्रह में श्री (देवी) के आशीर्वाद से धन-सम्पत्ति प्राप्त होने की कथाएँ वर्णित हैं। एदो पर लिखित *सायतो साशियो* के ग्रन्थ में एदो क्षेत्र में 1836 में बने हुए श्री मन्दिर का उल्लेख मिलता है। उनमें तोक्यो के उइनो क्षेत्र में बने होकोदो मन्दिर का उल्लेख भी है। श्री साधना का अभ्यासी चन्द्र मण्डल में बने श्री बीजाक्षर पर ध्यान जमाकर उपासना करता है। वह चिन्तामणि में परिवर्तित हो जाता है जो पूर्ण शरीरधारिणी और सुन्दर श्री देवी का रूप धारण कर लेता है। जैसे-जैसे अभ्यासकर्ता वेदी पर स्थिर श्री की प्रतिमा पर त्राटक साधता जाता है वह देवता का अंग ही बनता चला जाता है।

श्री शक्ति का प्रस्फुटन थी और उसका राज्य और सामन्त वर्ग के उत्सवों से निकट का सम्बन्ध है। सरस्वती कलाओं की गरिमा को समर्पित थी और जीवन की ही भाषा थी, चाहे वह कलाकारों के स्वप्नों का निगूढ़ संसार रहा हो या साहित्यकारों का।

ज्यों-ज्यों राजकवि समारोहों में श्री की भूमिका कम होती गई उसका स्थान सरस्वती लेती चली गई और वह आज भी वहाँ की लोकप्रिय देवी बनी हुई है।

## II

अन्य हिन्दू देवगण जापान में मन्त्रयान या शिंगन के साथ संस्कृत में लिखी उसकी पूजाविधि, सम्पन्न प्रतिमानिमणि सहित प्रविष्ट हुए जो यहाँ प्रतिमाओं, या सिद्धम् बीजाक्षरों (जापानी में सूजी) और चारों-ललित कलाओं (1) चित्र एवं मूर्तिकला (2) संगीत और साहित्य (3) मुद्रा और अभिनय, तथा (4) सभ्यता और धर्म के उपकरणों में अभिव्यक्त किए जाते हैं, जैसा कि कोबो दायशी ने बताया है। कोबो दायशी ने शिंगन संस्कृति जापान को, “वहाँ के लोगों का अन्धकार दूर कर उनमें प्रकाश फैलाने तथा भौतिक रूपेण उनकी रक्षा करने के लिए” प्रदान की। शिंगन के दो प्रधान पाठ्य ग्रन्थों में से एक महावैरोचन सूत्र है। चीनी भाषा में इसका अनुवाद शुभाकर सिंह (637-735) ने ईत्सिंग (683-727) की सहायता से किया। कोबो दायशी ने इस और अन्य पावन पाठग्रन्थों को 806 में जापान में प्रारम्भ कराया। महावैरोचन सूत्र का चित्रित प्रतिनिधि गर्भधातुमण्डल है। इसमें तीन समकेन्द्रित आयत बने हैं। बाहरी आयत में वज्र परिवार के देवता हैं। वज्र हिन्दू देवमण्डल का सूचक है। इसके देवता ये हैं—

त्रिदेव :

ब्रह्मा

उमा व महेश्वर, गणपति, कुमार

नारायण व नारायणी

सप्त मातृकाएँ :

रुद्री, वैष्णवी, यमी, ब्राह्मी, ऐन्द्री, चामुण्डा, कौमारी

बारह देव (जापानी में, जुनीतेन) या अन्तरिक्ष देवता;

इन्द्र (पूर्व) अग्नि (अग्निकोण), यम (दक्षिण) नैऋति (नैऋत्यकोण), वरुण (पश्चिम), वायु (वायव्यकोण), कुवेर (उत्तर), ईशान (ईशानकोण), ब्रह्मा (आकाश), पृथ्वी (पाताल), सूर्य, चन्द्र

चन्द्रकुल के लोकदेवता :

(1) राशिमण्डल की बारह राशियाँ (जापानी में कू)—

सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष मिथुन, कर्कटक

(2) अट्टाईस नक्षत्र (जापानी में-शू) :

पूर्व के सात : नक्षत्र-कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा

दक्षिण के सात नक्षत्र : मघा, पूर्वफाल्गुनि, उत्तर फाल्गुनि, हस्त, चित्रा, स्वाति,

विशाखा



पश्चिम के सात नक्षत्र : अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित, श्रावण

उत्तर के सात नक्षत्र- धनिष्ठा, शतभिषग, रेवती, अश्विनी, भरणी, पूर्व भाद्रपद, उत्तर भाद्रपद।

सूर्य कुल के लोकदेवता

(3) नवग्रह (जापानी में *शिशियो*) :

आदित्य, सोम, अंगारक, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु, सूर्य और चन्द्रमा बारह देवों और नवग्रहों में आते-जाते रहते हैं

इन दोनों कुलों में संस्कृत में अनेक नाम मिलते हैं

सूर्य (बारह देवताओं में से एक देवता); आदित्य, (नौ ग्रहों में से एक)

चन्द्रमा (बारह देवताओं में से एक; सोम (नौ ग्रहों में से एक)

ऊपर बताए 75 देवताओं में से केवल गणपति की ही स्वाधिकारे उपासना की जाती है। हालाँकि गर्भधातुमण्डल के अन्य देवताओं को भी बलि चढ़ाई जाती है। होम कर्मकाण्ड संहिताओं में कर्मकाण्ड में व्यवहृत मन्त्र और मुद्राएँ भी दी हुई मिलती हैं। ये रूप और मनस को अन्तर्ग्रथित करते उदात्त सूत्र जैसे हैं जिनसे प्रत्येक सीमा का अतिक्रमण करती मानव अस्तित्व की चार गतियों के प्रतीकों की खोज की जाती है। यह बौद्ध देवताओं का प्रकटीकरण है जैसे महेश्वर महावैरोचन का प्रकटीकरण है। उनका प्रतिमा-लाक्षणिक विवरण, व्युत्पत्ति और दार्शनिक व्याख्या टीकाग्रन्थों में मिलती है।

बारह देवता चार दिशाओं, चार कोणों, आकाश और पाताल के अभिरक्षक देवता सूर्य और चन्द्रमा हैं। शोकु *निहोनकोकी* इतिवृत्त बनाता है कि एक राजादेश 846 में जारी किया गया कि इन्द्र और ब्रह्मा की उपासना सन्त्याकुजी विहार में चावल की बलि देकर की जाए। इन्द्र की कथाएँ *कोंजाकु मोनोगतारी* में कही गई हैं। 14वीं शताब्दी के लोककथा संकलन *शितोशू* में इन्द्र और शची को आदर्श दम्पति बताया गया है। जापानी सन्त निचिरेन की, जिसने कमल सम्प्रदाय की स्थापना की, इन्द्र में भारी श्रद्धा थी। तोक्यो के शिवमत क्षेत्र में इन्द्र को समर्पित मन्दिर है। आजकल यह मन्दिर बहुत महत्वपूर्ण बन गया है। इसका निर्माण 1621 में किया गया है। इन्द्र का एक अन्य मन्दिर तोक्यो के कात्सुशिका वार्ड में अवस्थित है। इन्द्र को क्योतो के त्सुम्योजी विहार में भी प्रतिष्ठित किया गया है। लोग बाग व्यापार में समृद्धि पाने को वहाँ उनकी उपासना करने जाते हैं।

अग्नि पाँच महर्षियों, वशिष्ठ अत्रि, गौतम, भृगु और अंगिरस् के सान्निध्य में है।

मृत्युपरान्त कर्मों का न्यायकर्ता होने से यम भी लोकप्रिय हैं। वह कर्मों के अनुसार लोगों को पुरस्कार या दण्ड देते हैं। जनता में वह लोकप्रिय रहे, अभी भी हैं। प्रसिद्ध जापानी महाकाव्य जैसे *हाहके मोनोगतारी* इसकी कथाएँ वर्णित करते हैं। वर्ष 1172 से यम के दूत ने यम कार्यालय से यमराज का एक पत्र वहाँ उपस्थित होने के

लिए लाकर एक भिक्षु को दिया। उस भिक्षु ने यम के प्रासाद का विस्तृत वर्णन दिया है। एदो युग में एदो में यम के अनेक मन्दिर विद्यमान थे। 1832 की *तोतो साइजिकी* में एदो क्षेत्र स्थित 31 यम मन्दिरों में हुए उत्सवों का वर्णन दिया गया है।

वरुण की उपासना सूखा पड़ने, तूफान, बाढ़ आदि आने से बचाव पाने को की जाती थी जो जापान में बराबर आते ही रहते हैं। जापानी इतिवृत्त इन आपदाओं की रोकथाम करने के विशेष सन्दर्भ देते हैं। ताक्यो के मेगुरो वार्ड में बने कूदोदो शरण्य में वरुण को 1836 में एक मन्दिर समर्पित किया गया।

जुनितेन-गी का कथन है कि जो लोग लोकसेवा में जाना चाहते हों उन्हें ब्रह्मा की उपासना करनी चाहिए। साहित्यिक कृतियों में उन्हें इन्द्र सहित शाक्यमुनि के पार्श्व में बैठा बताया गया है।

पृथ्वी की उपासना उस समय सुख-प्राप्ति अथवा जब बीमारियाँ पृथ्वी प्रदूषित हो जाने के कारण फैल जाती उनसे मुक्ति पाने को की जाती थी।

लोक देवता सूर्य कुल के अथवा चन्द्र कुल के होते थे। चन्द्र कुल में राशिमण्डल की बारह राशियाँ और अट्टाईस नक्षत्र आते हैं। ये गर्भधातुमण्डल में होम कर्मकाण्ड के लिए महत्त्वपूर्ण थे, परन्तु अपने कारण ही वे महत्त्वपूर्ण नहीं बन पाए हैं।

नवग्रहों की फलित ज्योतिष में उपयोग होने के कारण महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अमोधवन्न (705-774) *महामयूरी* के अपने चीनी अनुवाद में कहता है 'ये नवग्रह हैं' जो रात और दिन के समय अट्टाईस नक्षत्रों में क्रम से घटते-बढ़ते रहते हैं। ये ही संसार में समृद्धि या आपदाएँ, दुख या सुख अपनी स्थिति के अनुसार लाते हैं। ये नवग्रह शक्तिशाली और अच्छे या बुरे भाग्य को लाने वाले होते हैं। (*तायशो* 19, 437 ए 14)।

1970 में प्रथम बार कोयसान जाने पर मैंने वहाँ नवग्रह पूजा को सजीव प्रथा के रूप में होते पाया। देवगण जीते जागते हैं। वे हमारी अनिर्दिष्ट नियति की निगरानी करते हैं, हालाँकि वे वायु में गतिमान हैं। सड़क-किनारे सपाट गोलाभ चट्टान के ऊपर स्थित अण्डाकृति चट्टान बनी थी जिस पर संस्कृत में रो रूपचित्र लिखा था; संस्कृत अक्षरों का यहाँ गहरा अर्थ होता है। वहाँ देखा कि मिनी पहने, केश काले रंगाए, और सम्भवतः गोल स्त्रीरूप पाने को स्टायरीव इंजेक्शन भी लगवाए हुए एक जापानी किशोरी कागज के टुकड़े पर टैंगरीव, बड़ी शालीनता से इन नवग्रहों को समर्पित कर रही है। रो यहाँ नवग्रहों का बीजाक्षर है।

तोजी विहार के कांची-इन शरण्य में नवग्रहों की पूजा का पटचित्र है जिसके साथ चित्र और सिद्धम लिपि में संस्कृत मन्त्र भी दिए हुए हैं। इसका चित्र संलग्न है।

विषजनित रोगों के उपचारार्थ गरुड़ की पूजा की जाती है ऐसा हमें शोचो (1205-1281) द्वारा लिखे *असबाशो* से विदित होता है। महाकाल जापानी अनुवाद में *दाइकोकु*, है जो रोचक ढंग से रूपान्तरित होकर "भाग्यदेवता" बन गया है। महा का अर्थ है *बड़ा* और काल का अर्थ है *समय*। जापानी देवता स्वर्ण मुद्ग लिए, मूल्यवान

वस्तुओं का बोरा सम्भाले हुए है जो समृद्धि और सम्पत्ति का प्रतीक है। कृषक उसे पंच धान्यों का देवता मानते हैं और अच्छी फसल के लिए उसकी आभ्यर्थना करते हैं। वह कृषकों और व्यापारियों का संरक्षक है।

गणपति जापानी में 'शोतेन (शुभदेवता) या कांगितेन' (नन्दिकेश्वर) अथवा *गणवाशी* हैं। गणपति को जापान में 806 के गर्भधातुमण्डल के बाह्यवृत्त वाले देवमण्डल में प्रवेश मिला है।

सेतगया वार्ड के तोकाकुजान किशी जोइन मन्दिर की स्थापना भिक्षु योगी ने 740 में की। इसमें गणपति की शुद्ध स्वर्ण प्रतिमा स्थापित है जिसकी उपासना शासक प्रतिनिधि होजो यासुतोकी (1183-1242) ने की थी। त्सुरोगाओ का हाशिमन मन्दिर की प्रतिमा एन्नन (794-864) द्वारा चीन से लाई बताई जाती है।

तोक्यो के असाकुसा क्षेत्र का शोतेनगू मन्दिर नौवीं शती के आरम्भ में निर्मित हुआ। इस जगह को *शोतेन-चो* या गणपति नगर कहते हैं। 1832 में इस क्षेत्र में सौ के लगभग गणपति मन्दिर थे। 1970 में प्रो. यामामोतो के साथ मैं इस मन्दिर के दर्शन करने गया। अधेड़ लोगों के अलावा यहाँ युवकों-युवतियों की भी भीड़ थी। प्रो. यामामोतो ने मुझे बताया कि नवजवान पीढ़ी अपने प्रेम-प्रसंग में सफलता पाने के लिए गणपति से प्रार्थना करती है तो अधेड़ उम्रवाले व्यापारी फलता-फूलता व्यापार पाने की समृद्धि का आशीर्वाद माँगते हैं। जापानी उनकी उपासना आनन्द प्राप्ति और आपसी झगड़े निपट जाएं इसके लिए भी करते हैं। वह *कांगितेन* आनन्ददाता, *नन्दिकेश्वर*, प्रेम का देवता है। इसकी निष्ठा से की गई पूजा से चमत्कार तक हो जाते हैं।

साम्राज्ञी उदा तेन्नो (रा. 888-897) ने काजोजी मन्दिर में, जिसका प्रदान देवता गणेश या *दायशो कांगितेन* हैं, अपने पितामह के लिए 951 में एक उत्सव आयोजित किया।

फिलिप फ्रॉज फॉन सीबोल्ड के यात्रा-वर्णन से संकेत मिलता है कि गणपति एदो युग में लोकप्रिय देवता थे। सायतमा प्रिफेक्चर के कांगीइन मन्दिर की धातुमूर्ति 1198 में प्रतिष्ठापित की गई। इसे राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित किया गया है। 13वीं शताब्दी में इसी प्रिफेक्चर में शोतेन-इन मन्दिर में गणपति प्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा की गई। यह गोपनीय मूर्ति है और जनता को इसका दर्शन करने नहीं दिया जाता।

गणपति की तोजी विहार में पूजा की जाती थी, एसा *केईरन शुयोशू* में बताया गया है।

जब सम्राट गोयोजेह 1598 में बीमार पड़े तो उनकी रोगमुक्ति के लिए विस्तारपूर्वक शक्तिशाली उत्सवों द्वारा गणपति होम में बलि दी गई।

भिक्षु तंकई ऋषि की जीवनी में कहा गया है कि उन्होंने नारा के निकट होसन जी मन्दिर में 1678 में गणपति प्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा की थी, यह मन्दिर विशेष रूप से उसी के लिए बनाया गया था। यह भिक्षु गणपति से विमर्श भी किया करता था। यह

बहुत प्रसिद्ध प्रतिमा है और इस *इकोमानो शोतेन सान* कहा जाता है।

जापान के अनेक महत्वपूर्ण नगरों में गणपति को समर्पित मन्दिर हैं। ओसाका के निकट भिक्षु इकू ने 121 दिनों तक गणपति की पूजा करते रहने के उपरान्त 1682 में शोमीजी मन्दिर में गणपति प्रतिमा स्थापित की। यह प्रतिमा जापान की अत्यधिक पावन प्रतिमाओं में गिनी जाती है और इसे *यामाजाकीनो शोतेन* कहा जाता है।

विगत शताब्दियों में अनेक मन्दिरों में गणपति प्रतिष्ठापित किए गए हैं। तोक्यो के असाकुसा क्षेत्र में गणपति मन्दिरों का सबसे बड़ा संकेन्द्रण है जैसा *एडो माहशो त्रूई* में संकेत किया गया है।

तकाओ के त्रिंगोजी विहार में एक विशेष मन्दिर है जिसमें गोपनीय युग्म गणेश प्रतिमा स्थापित है। यहाँ प्रतिवर्ष उसके सम्मान में पूजा आयोजित की जाती है। अन्य मन्त्रयानी विहारों में गणपति के विशेष मन्दिर बने मिलते हैं। कोयसान के घर गणपति दीप्ति से पावन बने हुए हैं। कोयसान प्रवास के अन्तिम दिन रेल स्टेशन जाने वाली बस की प्रतीक्षा करता मैं बेंच पर बैठा हुआ था। उत्सुकतावश एक दुकान के अन्दर चला गया जहाँ श्वेत लकड़ी से बनी खड़े गणेश की मूर्ति रखी हुई थी। दुकान के स्वामी से इसके लिए बार-बार अनुरोध करने पर भी मुझे केवल उसकी मधुर मुस्कान और विनम्र नमन ही मिल पाया। वह प्रतिमा नहीं मिली। खेद मेरी कामना अपूर्ण रह गई। गणपति वैभव की अतिक्रामी परिपूर्णता अभी भी जापान के अर्चना करते हृदयों में मंद-मंद जगमगा रही है। *कांगितेन* या नन्दिकेश्वर गणपति

*शान्त करता मन को बनाता प्रसन्न  
सब मलिन छायाएँ छँट जाती  
अस्थिरता हो जाती विसर्जित  
और आनन्द, हाँ, समरसता हमें मिल जाती*

## जापान में नवग्रहों का पटचित्र

<p>Angaraka</p>  <p>Yukra</p>	<p>Soma</p>  <p>Bhaspati</p>	<p>Aditya</p>  <p>Budha</p>
 <p>Ketu</p>	 <p>Rahu</p>	 <p>Yani</p>
		

## स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन\*

यशदेव शल्य\*\*

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा 'स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण' नाम से अधिकांशतः हिन्दी में लिखे गए और दो-एक अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित लेखों का संकलन इस दृष्टि से बहुत स्तुत्य प्रयास है कि वह स्वातंत्र्योत्तर भारत की सांस्कृतिक मनोदशा को पर्याप्त रूप से व्यंजित करता है। यों अंग्रेजी में पहले 1972-75 के बीच-समकालीन भारतीय दर्शन पर प्रोफेसर के. सच्चिदानन्द मूर्ति, डॉ. नन्दकिशोर देवराज तथा प्रोफेसर मार्गरेट चटर्जी द्वारा संपादित तीन संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जो यही प्रयोजन सिद्ध करते हैं, किन्तु यह संकलन उनसे दो दृष्टियों से भिन्न कहा जा सकता है। एक तो इस दृष्टि से कि इसमें प्रत्येक लेखक के एक से अधिक लेख संकलित हैं, जिन्हें एक-एक परिच्छेद में सुचिन्तित शीर्षकों के अन्तर्गत सम्पादित किया गया है, और दूसरे इस दृष्टि से कि इनमें से अधिकांश लेख हिन्दी में लिखे गए हैं।

इस संकलन के नाम पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या स्वातंत्र्यपूर्व और स्वातंत्र्य-पश्चात् के भारतीय दर्शन के बीच कोई विभाजक रेखा लगायी जा सकती है? हमारे विचार में यह रेखा लगाई जा सकती है। वह रेखा क्या है, यहाँ हम देखने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु एक और आधारभूत प्रश्न, जो हमने अंग्रेजी में प्रकाशित उपर्युक्त तीन संकलनों के प्रकाशन पर उठाया था, कि इनके नाम में प्रयुक्त 'भारतीय' विशेषण का अर्थ क्या है? यहाँ हम संक्षेप में उस पर भी विचार करेंगे।

× × ×

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ एक नए युग का आरम्भ हुआ, ऐसा असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। उससे पहले संस्कृत भाषा और उससे जुड़ी विचार और भाव-धारा के आधार पर संयुक्त यह देश सांस्कृतिक रूप से एक होते हुए भी राज्य-शासन की दृष्टि से विभक्त था। अंग्रेजी राज्य ने इसे राज्य शासन की दृष्टि से

\* यह लेख डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित और विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर द्वारा प्रकाशित *स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण* पुस्तक के पुरोवाक् के रूप में लिखा गया था। यहाँ उसके प्रकाशन की अनुमति देने के लिए हम डॉ. शर्मा के प्रति आभारी हैं।

\*\* सम्पादक, उन्मीलन।

एकता दी, यद्यपि राज्य के स्तर पर इसे पराजित कर उसने इसके सांस्कृतिक आधारों पर बहुत गहरा आघात किया और इसे स्थायी रूप से आहत किया। इसके परिणामस्वरूप यह देश इन दोनों स्तरों पर बहुत गहराई से विचलित और आन्दोलित हुआ और यह पुनर्जागरण का हेतु बना। राजनीतिक रूप से भी अंग्रेजों के आगमन को इस दृष्टि से एक नए युग के सूत्रपात का हेतु कहा जा सकता है कि इसने पहली बार इस देश को एक राजनीतिक अस्मिता दी जिसके कारण इसने अंग्रेजी राज्य को एक **विदेशी राज्य** के रूप में और अपने को विदेशियों से पराजित, उनसे अधीनीकृत के रूप में देखा, जिससे यहाँ एक ऐसे राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जैसा इस देश में पहले कभी नहीं हुआ था। किन्तु सांस्कृतिक स्तर पर इसकी प्रतिक्रिया बड़ी जटिल और अपरिभाष्य—जैसी हुई। एक ओर इसने अपनी सांस्कृतिक अस्मिता पर हुए आघात से अपने को उबारने के लिए संस्कृति और सभ्यता में उत्कृष्ट महसूस किया और इससे मिली चुनौती का साम्मुख्य अपने अतीत गौरव की ऐसी पुनर्चना द्वारा करने का प्रयत्न किया जो बहुत कुछ इस विजेता जाति की संस्कृति के वर्तमान जैसा था या उसके प्रतिमानों पर पूरा उतरता था। आर्य समाज और ब्रह्म समाज, स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द, जो भारतीय नवजागरण के पुरोधा कहे जा सकते हैं, सबने भारत के अतीत में गौरव का अनुसंधान किया। उनकी उस अतीत की व्याख्या की पदावली बहुत कुछ पश्चिम को सम्मुख रखकर ही निर्मित हुई। जो पण्डित वर्ग भारत की पारम्परिक पदावली से जुड़ा रहा उसे '**नये भारत**' ने अपना प्रतिनिधि स्वीकार नहीं किया। यहाँ राजा राममोहन राय का स्मरण स्थाने होगा जो इन तीन के साथ गणनीय चौथे हैं। जिस लक्षण की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ वह इन तीन में जबकि बहुत कुछ अलक्षित है, ब्रह्मसमाज में वह पर्याप्त स्पष्ट लक्षित है। किन्तु ये चारों इस दृष्टि से एक ही वर्ग में रखे जा सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द प्राचीन भारत की पुनर्चना **पश्चिम के अनुसार** कर रहे थे, इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उनकी दृष्टि नवीन थी और यह नवीनता पश्चिम के सम्पर्क की परिणाम थी। आर्य समाज जिस प्राचीन भारत की प्रतिष्ठा कर रहा था उसकी कसौटी विज्ञान था। यहाँ तक कि उसने वेदों में आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी के आविष्कार ढूँढ़ने का प्रयत्न भी किया। स्वामी विवेकानन्द वेदान्त की 'आधुनिक' व्याख्या कर रहे थे और श्रीअरविन्द **दि सीक्रेट ऑफ दि वेदाज्ञ तथा फाउन्डेशंस ऑफ इण्डियन कल्चर** भारतीय संस्कृति-सभ्यता पर यूरोप की आपत्तियों का उत्तर देने के लिए उसकी दृष्टि के प्रकाश में लिख रहे थे। यह निश्चय ही भारत का पुनर्जागरण था, जो इस बात का द्योतक था कि इस देश की सांस्कृतिक परम्परा निष्प्राण नहीं हुई थी, केवल कुछ तंद्रा ही इसमें आई थी। इस बाहरी चुनौती ने वह तन्द्रा इसमें दूर की और इसे फिर से अपनी अस्मिता को परिभाषित करने के लिए प्रेरित किया।<sup>1</sup> इसकी तुलना भक्तिकाल के पुनर्जागरण से करने से यह बात सहज ही समझी जा सकती है। उस पुनर्जागरण का कारण कोई ऐसी

विस्थापक बाहरी चुनौती नहीं थी जिसने इसमें आत्मविश्वास का संकट उत्पन्न किया हो। यहाँ इस बात का महत्त्व कम करके नहीं आँकना चाहिए कि स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द ने लिखने के लिए अपनी भाषा अंग्रेज़ी को ही चुना, अन्य सब तो अंग्रेज़ी को अपना ही रहे थे। सौभाग्यवश साहित्यिक लेखन की माध्यम भारतीय भाषाएँ ही रहीं, किन्तु वैचारिक लेखन की भाषा सम्पूर्णतः अंग्रेज़ी हो गई। ऐसा नहीं है कि अपनी अस्मिता की रक्षा और अपनी भाषा के रूप में अंग्रेज़ी को अपनाने के बीच विसंगति का कुछ भी बोध देश में नहीं रहा हो। महात्मा गाँधी ने तो आरम्भ से ही अंग्रेज़ी को पराधीनता का द्योतक ही माना था, किन्तु कुछ और लोग भी थे जो हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में लिखने को भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के अंग के रूप में देखते थे<sup>2</sup>। इसी दृष्टि ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को जन्म दिया था और इसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता महात्मा गाँधी ने की थी। किन्तु शिक्षा और शासन में शक्ति-पीठों पर आसीन लोग अंग्रेज़ी को ही ज्ञान का एकमात्र माध्यम देखते थे और सामान्यजन में भी अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी के प्रति एक सहज उच्चता का भाव था, भले ही भारतीय भाषाओं को वे स्वतन्त्रता के प्रतीक के रूप में देखते रहे हों। किन्तु 1947 में भारत के राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हो जाने के बाद स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष की बात समाप्त हो गई। अब तो प्रश्न भारत के पुनर्निर्माण का था, जो हमारे शक्ति-पीठासीन लोगों के अनुसार अंग्रेज़ी के माध्यम से ही हो सकता था, क्योंकि सारा ज्ञान-विज्ञान तो यूरोप के पास ही था और उसके लिए उपयुक्त माध्यम अंग्रेज़ी ही हो सकती थी। अवश्य भारत के पास भी ज्ञान था, किन्तु वह ज्ञान अध्यात्मविद्या का था और उसका ज्ञाता प्राचीन भारत था, आधुनिक भारत नहीं। 'वर्तमान' भारत तो अध्यात्म और विचार दोनों से समान रूप से वंचित था। अब उसे अपने निर्माण के लिए यदि किसी चीज़ की आवश्यकता थी तो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की, न कि किसी अध्यात्मविद्या की, जिसने संसार को माया बताया था और इस प्रकार हमें संसार से विमुख करके हमारे जीवन को निष्क्रिय बनाया था। स्वामी विवेकानन्द ने जो ब्रह्म-ज्ञान से पहले फुटबाल के खेल को बताया, उसमें एक गहरा संकेत है। निश्चय ही हमारी आरम्भिक प्रतिक्रिया अपनी पराजय के कारणों को जानने और अपने उस सबल स्वरूप को फिर से पाने की ही थी जो वास्तव में हमारा है किन्तु विस्मृत हो गया है, किन्तु इस स्वरूप का प्रतिमान अब बहुत कुछ पश्चिम ही था। आगे चलकर यह और स्पष्ट इस बात से हो जाता है कि हमारे 'दार्शनिकों' ने प्राचीन भारतीय दर्शन के उत्कर्ष की खोज पाश्चात्य दर्शन से उसकी अनुरूपता में की। इसके अतिरिक्त संस्कृत का पण्डित वर्ग भी था जो पश्चिम से अछूता था और प्राचीन दर्शन की परम्परा में ही निमग्न था, किन्तु वह उस 'नये भारत' से कटा हुआ, **पुराण-पंथी**, वर्ग था। उदीयमान भारत का पुरोधा उपयुक्त रूप से पहला वर्ग ही था जो अपने को पश्चिम के प्रतिमान से आँक रहा था और उसकी पदावली में ही सोच-समझ रहा था।



तो यह थी हमारी मनःस्थिति जिसमें हमारा देश स्वतन्त्र हुआ था। यदि हम उस सारी मानसिकता को गहराई से देखें तो पाएँगे कि देश के मानस में गहरे में कहीं 'स्वतन्त्रता-संग्राम' का अर्थ राजनीतिक स्वतन्त्रता ही था, मानसिक (सांस्कृतिक) स्वतन्त्रता नहीं। महात्मा गाँधी ने, और बहुत सीमा तक नवजागरण के उपर्युक्त प्रवर्तकों ने भी, राजनीतिक आन्दोलन को मानसिक स्वातंत्र्य के साथ जोड़ा था और इस दूसरी पराधीनता का खतरा स्पष्टतः देखते हुए बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही इसके प्रति चेताया था। उन्होंने राजनीतिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के इस नए पुरोधे को भूरे साहिबों का नाम दिया था और देश को इनसे बचने का आह्वान किया था। किन्तु इसमें वे असफल ही रहे।<sup>3</sup> राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही हमारे सांस्कृतिक पुरोधे ने प्राचीन भारत के गौरव की बात छोड़कर नये भारत के निर्माण को लक्ष्य बनाया और पहले की तरह शंकर को हेगल और ब्रैड्ले में खोजने के बजाय अपने ही को रसल और विट्गेंस्टाइन के आदर्श में ढालना आरम्भ किया। ऐसे में भारतीय भाषाओं के लिए कोई स्थान कैसे हो सकता था? किन्तु स्वतंत्रता-आन्दोलन में हमने राष्ट्र भाषा का संकल्प भी लिया था, तो उस संकल्प का क्या करते? सो, बीच-बीच में उसकी आवाज़ भी उठती रही, किन्तु उससे जुड़ी दृष्टि किसी के पास नहीं थी। भाषा के प्रश्न को लेकर दक्षिण और उत्तर के बीच पड़ी दरार की बात एक ओर और भारतीय भाषाओं में वैचारिक-शास्त्रीय वाङ्मय के अभाव की बात दूसरी ओर थी जो नए भारत के पुरोधे के पास अंग्रेज़ी को ही शिक्षा और राज्य की भाषा के रूप में रखने के लिए अकाट्य युक्ति थी। 'वैचारिक वाङ्मय' एकमात्र वही था जो यूरोप के विचारकों द्वारा लिखा गया था या लिखा जा रहा था। वह भारतीय भाषाओं में कैसे हो सकता था? ऐसी अवस्था में, जब भारतीय भाषाओं में कोई वाङ्मय था ही नहीं, तो भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम कैसे बनाया जा सकता था? स्वयं भारतीय भाषाओं के समर्थकों के पास भी इसका कोई उत्तर नहीं था। द्रष्टव्य है कि जो लोग हिन्दी में भी लिख रहे थे उनके पास भी अधिकांशतः विचार कोई अपना नहीं था, वे भी 'आधुनिक विचार' के लिए पश्चिम को ही देख रहे थे। अवश्य कुछ तब भी प्राचीन भारत के विचार प्रस्तुत कर रहे थे। किन्तु इनकी संख्या नगण्य थी और इनका कोई महत्त्व नहीं था। किसी भारतीय भाषा में साहित्येतर किसी विषय की कोई पत्रिका भी नहीं थी। हिन्दी में डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने 1951-52 के आसपास एक समाजशास्त्र की पत्रिका 'समाज' आरम्भ की थी, जिसके शायद दो-चार अंकों से अधिक अंक नहीं निकल पाए। कुछ और प्रयत्न भी हुए, जैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा अपने वार्षिक अधिवेशनों में 'दर्शन परिषद्' तथा 'समाजशास्त्र परिषद्' का आयोजन किया जाने लगा जिसमें किसी दार्शनिक तथा समाजशास्त्री का व्याख्यान कराया जाता था। किन्तु ये सब 'पाँचवाँ सवार' बनने के जैसे प्रयत्न ही थे, बल्कि उससे भी क्षीण, जैसा कि हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की 1948 की दर्शन परिषद् के अध्यक्षीय भाषण में पं. बलदेव उपाध्याय के इस अनुरोध से सहज ही

अनुमान किया जा सकता है। उनके शब्द हैं, “दर्शन के विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि अंग्रेजी में वे ग्रन्थ प्रणयन भले ही करें, पर उन्हीं विचारों के निदर्शन के लिए हिन्दी भाषा में भी ग्रन्थों की रचना करें।”<sup>4</sup> यह स्थिति बहुत कुछ आज तक बनी हुई है, यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में इसमें कुछ सुधार अवश्य हुआ है। यह सुधार कितना और कैसा है इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् ने जबकि 100 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित कर दी हैं, उनमें हिन्दी में केवल (मेरी) दो पुस्तकें ही हैं, अन्य कोई नहीं। न किसी अन्य भारतीय भाषा में कोई पुस्तक प्रकाशित की है। विटिंग्स्टाइन की दो-तीन पुस्तकों के अनुवादों को हिन्दी की पुस्तकें कहना अनुचित होगा। यहाँ बात हिन्दी या भारतीय भाषाओं की नहीं, पूरी मानसिकता की है जो भाषा से जुड़ी है। इस मानसिकता के रहते इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आप किस भाषा में लिखते हैं! यह अभी हाल ही की बात है, लगभग 1988-89 की, जब हमारे एक अत्यन्त वरिष्ठ और विश्वविद्यालय-क्षेत्र में अत्युच्च पदासीन, तथा अंग्रेजी के साथ हिन्दी में भी लिखने वाले दार्शनिक मित्र ने ‘अपने दर्शन’ पर एक लेख लिखकर **उन्मीलन** में प्रकाशनार्थ भेजा था। इस लेख के तीन-चौथाई भाग में उन्होंने पहले डेकार्ट से लेकर बर्ट्रैंड रसल तक पाश्चात्य दार्शनिकों की चर्चा की हुई थी और अन्त में एक चौथाई भाग में इस पृष्ठभूमि पर ‘अपने दर्शन’ को देखने-दिखाने का प्रयत्न किया था। मैं वह लेख **उन्मीलन** में प्रकाशित करने में असमर्थ रहा। हमारे दार्शनिक विचार की इसी स्थिति को लक्षित करते हुए मैंने लगभग 1975-76 में कभी लिखा था, “इधर समकालीन ‘भारतीय दर्शन’ नाम से डॉ. के.सच्चिदानन्द मूर्ति, डॉ. नन्दकिशोर देवराज तथा डॉ. मार्गरेट चटर्जी द्वारा सम्पादित तीन संकलन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इन तीनों सम्पादकों के अनुसार ‘भारतीयता’ का अर्थ **‘भारत की भौगोलिक परिधि में होना’** है और इस प्रकार ‘भारतीय दर्शन’ इस परिधि के दर्शन विभागों के वरिष्ठ अध्यापकों द्वारा लिखी गई शब्दावली है। ‘भारतीयता’ सम्बन्धी इस धारणा की प्रतिष्ठा इधर के कुछ वर्षों में तब हुई जब यूरोपीय शैली पर लिखने वाले कुछ उच्च पदासीन अध्यापकों ने अपने पद के अनुरूप दार्शनिक प्रतिष्ठा का दावा किया। किन्तु मेरी मान्यता है कि ‘भारतीय’ अथवा ‘भारतीयता का तत्त्व’ किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में घटित होना नहीं है<sup>5</sup> यह बात मैंने 1985 में आरम्भ की गई पत्रिका **उन्मीलन** के प्रथम अंक के सम्पादकीय में अधिक व्याख्या के साथ लिखी और इस पत्रिका को आरम्भ करने का उद्देश्य इस तत्त्व को पाना ही बताया था। अब, भारत का यह ‘तत्त्व’ दर्शन से अन्य तो सभी वैचारिक अनुशासनों में प्रायः पूरी तरह अनुपस्थित है, दर्शन में भी स्वतंत्रता के बाद बहुत समय तक यह प्रायः-प्रायः लुप्त जैसा ही रहा। स्वतंत्रता के बाद आरंभ में प्रायः सभी दर्शन के अध्यापक पाश्चात्य दार्शनिक के विचारों को ही प्रतिध्वनित कर अपने को धन्य मानते थे, यहाँ तक कि प्राचीन भारतीय दार्शनिक परम्परा में शिक्षित अध्यापक भी यथासम्भव यही करते थे। स्वतंत्रता के बाद स्वातंत्र्य-पूर्व की तुलनात्मक

दर्शन की बात अप्रासंगिक हो गई थी क्योंकि अब हमें अपने अतीत से अपने को गौरवान्वित करने की वैसी आवश्यकता नहीं रही थी।

इन मानसिकता में 1980 के आसपास कुछ परिवर्तन होना आरम्भ हुआ। कुछ लोगों को इसमें 'पश्चिम का अंधानुकरण' दिखाई देने लगा। तब कुछ ऐसे लोगों ने भी, जो तब तक प्राचीन भारतीय दर्शन को ठीक से दर्शन भी नहीं मानते थे, प्राचीन भारतीय दार्शनिकों पर लिखना आरम्भ किया। इस परिस्थिति में उन लोगों को भी कुछ स्वीकृति मिलनी आरम्भ हुई जो मूल संस्कृत में प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों को पढ़-समझ सकते थे। प्रोफेसर दयाकृष्ण ने एक नया उपक्रम आरम्भ किया—प्राचीन भारतीय परम्परा के पण्डितों को आधुनिक विचार के सम्पर्क में लाने का, जिसमें यह पूर्वगृहीत था कि पश्चिमी विचार ही आधुनिक और सार्वभौम विचार है।

इस सम्पूर्ण कालावधि में आधुनिक भारतीय भाषाओं की क्या स्थिति रही, यह भी विचारणीय है और यह पक्ष बहुत महत्वपूर्ण है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, भारतीय भाषाओं को अपनाने के विरुद्ध यह युक्ति दी गई कि इनमें अच्छी पुस्तकें नहीं हैं। किन्तु तब इससे कर्तव्य तो यह बनता था कि इनमें लिखना आरम्भ किया जाता। पर हुआ इसके उलट, इनमें लिखना घटियापन का द्योतक माना गया। स्वतंत्रता के बाद योग्यता का मानदण्ड यह था—योग्यतम, जो इंग्लैण्ड-अमरीका में पढ़ा है और जिसका लिखा वहाँ की पत्रिकाओं में छपता है, उससे उतरकर वे जो वहाँ पढ़े हैं और अंग्रेज़ी में लिखते हैं, किन्तु जिनका लिखा भारत में ही छपता है, इससे नीचे वे जो इसी देश में पढ़े हैं और जिनका लिखा इसी देश में छपता है। चौथी कोई श्रेणी नहीं थी, हिन्दी में लिखने वाले इसी गणना-बाह्य वर्ग में आते थे।<sup>6</sup> यह स्थिति बहुत कुछ अभी तक है, सन् 1970 तक तो यह पूरी तरह से थी जिसके बाद इसमें कुछ सुधार होना आरम्भ हुआ। द्रष्टव्य है कि स्वतंत्रता से पहले यह स्थिति नहीं थी। तब हिन्दी में लिखना राष्ट्रीयता का प्रतीक था।

ऐसी परिस्थिति में प्रकटतः पूर्ण रूप से संयोगवश मेरी रुचि सन् 1951 में साहित्य से दर्शन में हुई, और क्योंकि मैं साहित्य का लेखक था इसलिए मेरे लिए बाद में दार्शनिक लेखन आरम्भ करने पर वह भी हिन्दी में लिखना ही स्वाभाविक था। विश्वविद्यालयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि मेरी शिक्षा-दीक्षा किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में नहीं हुई थी। यों तो मुझे तब लिखने योग्य अंग्रेज़ी आती भी नहीं थी, किन्तु हिन्दी में लिख रहे होने से मुझे तब यह ध्यान भी नहीं आया कि हिन्दी में नहीं अंग्रेज़ी में ही लिखना चाहिए। किन्तु तब मैंने पाया कि हिन्दी में ऐसी कोई पत्रिका ही नहीं है जिसमें दार्शनिक लेख प्रकाशित हो सकें। इससे मैंने हिन्दी में साहित्येतर वाङ्मय के अभाव की बात को लेकर एक लेख लिखा और हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने योग्य होने के लिए ऐसा वाङ्मय होने को अनिवार्य पूर्वापेक्षा बताया। इस लेख से वह प्रक्रिया आरम्भ हुई जो 1964 में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् और दार्शनिक त्रैमासिक की स्थापना में निष्पन्न हुई।<sup>7</sup>

किन्तु यह शायद उतने संयोग की बात नहीं थी कि स्कूल तथा विश्वविद्यालय में शिक्षित नहीं होकर एक गुरुकुल में शिक्षित होने के बावजूद, और अंग्रेजी का मेरा लगभग कोई ज्ञान नहीं होने के बावजूद, दर्शन में मेरी रुचि का हेतु पाश्चात्य दर्शन बना। यह संयोग इसलिए नहीं था क्योंकि उस समय देश का सम्पूर्ण वायुमण्डल यूरोपीय विचार के जीवाणुओं से ही परिव्याप्त था। पाठ्यक्रमों में यूरोपीय दर्शन की ही प्रधानता थी और पुस्तकों की दुकानों में उन्हीं की पुस्तकें मिलती थीं। मार्क्स, फ्रायड, सार्त्र और रसल ये घरेलू नाम थे, यहाँ तक कि हमारे साहित्यिक तक इन्हीं की चर्चा करते थे। इसलिए अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना में **दार्शनिक भारत के स्वरूप** के सम्बन्ध में कोई दृष्टि नहीं थी—न मेरी और न किसी अन्य की। केवल यही दृष्टि थी कि दार्शनिक विचार की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। निश्चय ही परिषद् से जुड़े वरिष्ठ लोगों में अधिक संख्या प्राचीन भारतीय दर्शन के अध्यापकों की ही थी, किन्तु उनके लिए भी भारतीय दर्शन प्राचीनों द्वारा रचित दर्शन ही था, आधुनिक दर्शन वह था, जो पश्चिम में रचा जा रहा था। उस दर्शन का हमारे अनुभव और हमारी चिन्ताओं से कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह सोचने की किसी को कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही थी।

तो यह था स्थूल रूप से भारत का दार्शनिक परिदृश्य जो न्यूनाधिक अब भी बना हुआ है, केवल इस अन्तर के साथ कि अब हमारे दार्शनिक लेखक प्राचीन भारतीय दर्शन के साथ अधिक जुड़ने लगे हैं, यद्यपि इनमें से कुछ इसमें अर्थ का अनर्थ ही कर रहे हैं। उदाहरणतः प्रोफेसर दयाकृष्ण, जो पहले पाश्चात्य दर्शन को ही दर्शन मानते थे अब भारतीय दर्शन के ही गवेषी हैं, प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद, जो पाश्चात्य दर्शन के ही अनुध्यायी थे, अब भारतीय दर्शन को भी अध्येतव्य मानने लगे हैं, प्रो. के.जे. शाह, जो विटिगन्स्टाइन की भाषा ही नहीं बोली बोलने को ही बोलना मानते थे, पीछे भर्तृहरि में रुचि दिखाने को बाध्य हुए, प्रोफेसर जड़ावलाल मेहता, जो डाइडेगर के पण्डित थे, पीछे वेदान्त से भी जुड़े और उन्होंने हाइडेगर को वेदान्त में और वेदान्त को हाइडेगर में पाया, तथा वेदों और पुराणों पर भी कुछ अन्तर्दृष्टिपूर्ण लेखन किया,। ये सब बहुत प्रतिभासम्पन्न लोग हैं या थे, विशेषतः प्रोफेसर दयाकृष्ण किन्तु उपर्युक्त कारणों से देश में व्याप्त सांस्कृतिक कुण्ठा के कारण ये भारत में दार्शनिक चिन्तन को आगे नहीं बढ़ा सके।

×

×

×

उपर्युक्त सर्वेक्षण में भारत का दार्शनिक परिदृश्य जितना निराशाजनक चित्रित हुआ है, सम्भवतः यह उतना निराशाजनक नहीं है। इसके ऐसा प्रकट होने का बहुत बड़ा कारण संस्कृत में लिखने-पढ़ने-विचारने वाले पण्डित वर्ग का एक ओर और पश्चिम के विचार से जुड़े आंग्ल-भाषा-भाषी वर्ग का दूसरी ओर अपने समाज के अनुभव-प्रवाह से विच्छिन्न होना है, अन्यथा इन दोनों वर्गों में दार्शनिक चर्चा और लेखन पर्याप्त हो

रहा था। 'समाज के अनुभव-प्रवाह' से हमारा अभिप्राय अखबार और दूरदर्शन में परिलक्षित जीवन से नहीं है। बुद्ध, वाल्मीकि, वेदव्यास, कबीर, तुलसी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द, रमण महर्षि और गांधी—ये सब भी सामाजिक अनुभव-प्रवाह की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवन्त दर्शन अनुभव की इस धारा से जुड़ता है। संस्कृत के पण्डित इस प्रवाह से विच्छिन्न साँप की केंचुल को ही साँप मानकर पीटने में लगे रहे और आंग्ल भाषा-भाषी वाच्य-विच्छिन्न शब्दों की अनुवृत्ति में अपने को धन्य मानते रहे। अवश्य इन दोनों वर्गों में कुछ इन सीमाओं का अतिक्रमण करने में न्यूनाधिक सक्षम चिन्तक भी हुए, विशेषतः दूसरे वर्ग में—जैसे श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य। कुछ भारत की प्राचीन परम्परा के नवीनीकरण में समर्थ चिन्तक भी हुए, जिनमें श्री अरविन्द प्रमुख हैं, किन्तु इतने से, देश में कोई दार्शनिक चिन्तन का जीवन्त वातावरण नहीं बन सकता था। स्वतंत्रता के पश्चात् के युग में उपर्युक्त दोनों वर्गों या किसी एक वर्ग से कोई एक भी दार्शनिक चिन्तक हुआ है अथवा नहीं, इसकी थाह लेना अभी शेष ही है। तो भी, वाराणसी, कलकत्ता, त्रावणकोर, जयपुर, बड़ौदा, पुणे, काश्मीर आदि में संस्कृत में प्राचीन परम्परा का जीवन्त प्रवाह और इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, दर्शन की कुछ पत्र-पत्रिकाओं, बहुत सी दार्शनिक पुस्तकों और संकलनों का प्रकाशन, इन सबमें नवचिन्तन के प्रयत्न—ये सब इस देश के मानस में दर्शन के महत्त्व के द्योतक हैं और देश में दार्शनिक गतिविधि को बनाए हुए हैं।

## संदर्भ

1. यहाँ हम भारतीय मुस्लिम वर्ग को 'भारतीय' विशेषण के अन्तर्गत नहीं ले रहे हैं, क्योंकि इस वर्ग ने वैचारिक और सामाजिक रूप से कभी अपने को इस देश की परम्परा से नहीं जोड़ा, ये अपने को वैश्व मुस्लिम-परम्परा का अंग ही मानते हैं। ऐसा नहीं है कि इस देश की 'हिन्दू' नाम से अभिहित वैचारिक और सामाजिक परम्परा कोई एक है, इन दोनों के स्रोत रूप में अनेक श्रुतियाँ, स्मृतियाँ और आगम रहे हैं और ये परस्पर खण्डनात्मक भी रहे हैं—श्रुतियोविभिन्ना : स्मृतयो ऽपि भिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य मतः प्रमाणम्' यहाँ का आधार मन्त्र है, किन्तु ये सब सहज सहचार में रहे हैं। किन्तु मुसलमानों ने अपने को कुरान और शरीयत से ही जोड़ा और इन्हें अनेक आगमों में से एक आगम के रूप में नहीं देखा।
2. यहाँ श्री कृष्णचन्द्र महाचार्य के 1925 के लगभग लिखे गए लेख 'स्वराज इन आइडियाज' का उल्लेख करना स्थाने होगा जिसमें यही कहा गया है कि हमारी अवधारणाएँ शब्दों से बँधी होती हैं और इस प्रकार हमारा अंग्रेजी में लिखना हमें यूरोप की विचार-परम्परा से अनिवार्यतः जोड़ता है। किन्तु तब भी उन्होंने यह लेख भी और अपना अन्य सम्पूर्ण लेखन भी अंग्रेजी में ही किया, और उनके इस विस्मृत लेख का 1985 के लगभग उद्धार

- करने वाले डॉ. रामचन्द्र गाँधी और डॉ. के.जे.शाह ने भी अपने विचार की भाषा के रूप में अंग्रेज़ी को ही अपनाया।
3. निश्चय ही इसमें अत्युक्ति प्रतीत हो सकती है, क्योंकि पण्डित मदनमोहन मालवीय और पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे लोग भी थे जो पूरी तरह प्राचीन भारतीय मानसिकता में निमग्न थे, वास्तव में देश के बहुत बड़े जन-समुदाय की वही मानसिकता थी। किन्तु वह उनका संस्कार अधिक था, दृष्टि कम। यह जन-समुदाय नेहरू जी पर किस प्रकार और उनकी किन बातों पर मुग्ध था, उससे हमारे कथन का तात्पर्य और औचित्य समझा जा सकता है। इन संस्कारों से हमारे भूरे साहिब भी मुक्त नहीं थे, किन्तु ये उनके संस्कार थे, 'दृष्टि' नहीं। इसकी सच्चाई देखनी हो तो भारत की स्वतन्त्रता के समय हमारे राज्य के संविधान-निर्माण में ऐसे लोगों की स्थिति को देखें, जिनमें से किसी को यूरोपीय सरकारों के संविधानों की नकल उतारने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प दिखाई नहीं दिया।
  4. भारतीय दर्शन के जीवन्त प्रश्न, सं. संगमलाल पाण्डेय, प्रकाशन—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. सं. 143।
  5. द्रष्टव्य हमारा लेख 'समकालीन भारतीय दर्शन।' यह लेख अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ अधिवेशन के उद्घाटन-सत्र में पढ़ा गया था। पहले यह 'दार्शनिक' त्रैमासिक के उस वर्ष के किसी अंक में, फिर समसामयिक चिन्ताएँ में प्रकाशित हुआ।
  6. यह कसौटी कुछ अध्यापकों की व्यक्तिगत नहीं थी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भी थी।
  7. इसका विवरण मैंने एक लेख—'अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का जन्म और उसके आरम्भिक दो वर्ष' में दिया है। यह लेख 'दार्शनिक' त्रैमासिक के 1975-76 के किसी अंक तथा 'समसामयिक चिन्ताएँ' पुस्तक में प्रकाशित हुआ है।

## नक्सलवाद : मिथक और यथार्थ

विजय कुमार\*, शंकर शरण\*\*

“हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति।” (तुलसीदास)

हमारे प्रधान मंत्री कुछ समय से लगातार कह रहे हैं कि हमारी आन्तरिक सुरक्षा को सबसे बड़ा खतरा नक्सली आतंक से है। इसका कारण भी है। देश का लगभग बीस प्रतिशत क्षेत्र और आबादी नक्सली दबाव में जा चुका है। आंध्र से लेकर बिहार के सीमांत तक एक लम्बी भौगोलिक पट्टी नक्सली नियंत्रण की ओर बढ़ रही है। किन्तु इस पर चिन्तित होने के बदले बौद्धिक चर्चाओं में प्रायः सुनने को मिलता है कि नक्सलवाद ‘सामाजिक-आर्थिक समस्याओं’ का एक परिणाम है। अर्थात्, वह समस्याएँ मूल दोषी हैं, नक्सलवादी विचार, संगठन और हिंसा नहीं। हमारे यहाँ अधिकांश विमर्श खुले-छिपे इसी निष्कर्ष का संकेत करते हैं। नक्सलवाद से चिन्तित राष्ट्रवादी बंधु भी प्रायः कह बैठते हैं कि नक्सलवाद या माओवाद ‘अपने उद्देश्य से भटक गया है’ अथवा कि वह ‘हत्यावाद’ में बदल गया है। ऐसे बयानों में भी एक गम्भीर भ्रांति झलकती है, मानो माओवाद, नक्सलवाद पहले मूलतः कोई अच्छी विचारधारा थी जो बाद में पतित हो गई।

किन्तु ऐसी ही भ्रामक बातें तीन दशकों से असंख्य पत्रकारों, टिप्पणीकारों, प्रशासकों और विभिन्न गैर-सरकारी एजेंसियों द्वारा इतनी बार दुहराई गई हैं कि मानो स्वयंसिद्ध ही बन गई हैं। जब भी नक्सली संगठनों द्वारा हत्याएँ या अन्य विध्वंसक कार्रवाइयाँ होती हैं, कहीं-न-कहीं यह जरूर कहा जाता है कि इसके पीछे ‘भूमि सुधार’ न होना या ‘भूमि प्रश्न’ ही मूल समस्या है। चाहे कहने वाला इस तथाकथित भूमि प्रश्न का कोई अर्थ समझता हो या नहीं, किन्तु कई पत्रकार व प्रचारक यह दुहराते अवश्य हैं। वे इतना भी नहीं सोचते कि ऐसे तर्क देने का अर्थ यह बनता है कि जब तक यह तथाकथित भूमि प्रश्न है, तब तक नक्सली गिरोहों द्वारा हत्या और विध्वंस किंचित स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में, वह हत्याएँ उतनी निंदनीय नहीं जितनी अन्य अपराधियों

\* डॉ. विजय कुमार मगध विश्वविद्यालय, बोधगया में राजनीति शास्त्र विभाग में रीडर हैं।

\*\* डॉ. शंकर शरण राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व शोध परिषद्, नई दिल्ली में राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक हैं। पता : IV/28, एन.सी.ई.आर.टी. क्वार्टर्स, नसीरपुर, द्वारका, नई दिल्ली 110045

द्वारा की गई हत्याएँ हैं। ऐसे तर्क देते हुए विद्वान और पत्रकार नहीं सोचते कि तब कानून, न्याय-व्यवस्था और संवैधानिक उपचारों का क्या अर्थ रह जाता है और तब वह किसलिए बनी हैं ?

जान पड़ता है कि हमारे अनेकानेक पत्रकार, प्रोफेसर और राजनीतिकर्मी संविधान, कानून, न्यायालय, आदि को विश्व हिन्दू परिषद् या अयोध्या विवाद जैसे मामलों में ही सर्वोपरि रखने की जिद करते हैं। जबकि माओवादी क्रान्तिवादियों, उग्र अल्पसंख्यकों, अलगाववादी नेताओं आदि को हमारे बुद्धिजीवियों की ओर से चाहे अघोषित, किन्तु नैतिक छूट मिली हुई है कि वह कानून, संविधान, राष्ट्रीय अखंडता आदि को धता बताकर अपना आक्रोश जब चाहे, जैसे चाहे प्रकट कर सकते हैं। चाहे हत्याएँ करके, चाहे किसी का सिर उतार लेने या देश के और टुकड़े करने जैसी माँगें करके। तब किसी को न्यायालय, कानून के समक्ष समानता, मानव अधिकार आदि याद नहीं आता। हमारे बुद्धिजीवियों में यह कितनी खतरनाक प्रवृत्ति है, इसे गम्भीरता से समझा जाना चाहिए।

भारत में माओवाद पर अधिकांश टिप्पणियाँ उसी प्रवृत्ति से ग्रस्त रही हैं। यदि माओवादी संगठनों के अपने दस्तावेजों और उनके क्रिया-कलापों का मिलाकर अध्ययन करें तो यह बिल्कुल साफ हो जाता है। उदाहरण के लिए, पिछले दो दशकों से विभिन्न लेखकों-पत्रकारों द्वारा हम सुन रहे हैं कि मध्य बिहार या आंध्र प्रदेश में भूस्वामियों द्वारा भूमिहीन मजदूरों के शोषण से माओवादी विद्रोह उत्पन्न हुए। अथवा यह किन्हीं उच्च जातियों के विरुद्ध निम्न जातियों के मान-सम्मान की लड़ाई है। या यह भूमिहीन लोगों द्वारा भूमि पाने का संघर्ष है। जबकि वास्तव में यह सभी व्याख्याएँ और टिप्पणियाँ मनगढ़ंत हैं। क्योंकि माओवादी दलों के कार्यक्रम, विश्लेषण इसकी पुष्टि नहीं करते।

आरम्भ से ही माओवादी राजनीति कुछ सुनिश्चित सिद्धान्तों के आधार पर विकसित हुई, जिसे माओ की घोषणाओं, आह्वानों, किताबों से हू-ब-हू लिया गया था। सच यह है कि माओवादियों ने किन्हीं भूमिहीनों, या किन्हीं निम्न-जातियों के सम्मान, भूमि-सुधार या न्यूनतम मजदूरी के लिए अपना आन्दोलन और हिंसा आरम्भ नहीं की थी। किसी माओवादी दस्तावेज में इन सबकी कोई भी चिन्ता या विशेष चिन्ता दिखाई नहीं पड़ती। इसके स्थान पर प्रत्येक माओवादी पार्टी घोषणा-पत्र बिल्कुल साफ-साफ कहता रहा है कि उनका सम्पूर्ण प्रयत्न राज्य-सत्ता पर अधिकार करने के लिए है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को बल-पूर्वक खत्म कर, सत्ता पर कब्जे के बाद जनता के साथ वही समाजवादी प्रयोग करना है जो माओ ने किया था। इसका सरल अर्थ केवल यह है कि यदि माओवादी सफल हुए तो प्रत्येक क्षेत्र और समुदाय के लोगों को वही नरक भोगना पड़ेगा जो माओ के शासन काल में चीन में चीनियों को भोगना पड़ा था! भारतीय माओवादी चीन में हुए माओवादी प्रयोगों को भारतीय जनता पर दुहराने की इच्छा रखते हैं। इस स्पष्ट घोषणा के बावजूद हमारे बुद्धिजीवी लोगों को बहलाते हैं कि नहीं, वे तो किसी भूमि प्रश्न को लेकर लड़ रहे हैं। यह छल है।



उदाहरण के लिए, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ( मार्क्सवादी-लेनिनवादी) अथवा सी.पी.आई. (एम.एल.) जो यहाँ पहला माओवादी-नक्सली संगठन था, उसने मई 1970 में अपने पार्टी कार्यक्रम<sup>1</sup> में कहा था, “ चम्पारण के किसान संघर्ष से शुरू कर गाँधीवादी नेतृत्व ने, जो बुर्जुआ और सामंत वर्ग के ऊपरी हिस्से का प्रतिनिधित्व करता है, अपने ‘अहिंसा’, ‘सत्याग्रह’, निष्क्रिय प्रतिरोध और ‘चरखा’ की विचारधारा के साथ राष्ट्रीय आंदोलन को ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन और उसके सामंती पिटुओं की सेवा के लिए तैयार किया।” यहाँ गाँधीजी को गालियाँ किसलिए दी गई हैं ? केवल इस माओवादी अंधविश्वास के कारण कि गाँधी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का दलाल था। उक्त दस्तावेज मात्र गाँधी या अन्य कांग्रेस नेताओं को ही नहीं, वरन दूसरे कम्युनिस्ट नेताओं को भी उसी तरह गालियों से विभूषित करता है : “सी.पी.आई. के नेता साम्राज्यवाद और सामंतवाद के एजेंट हैं...(वे) चेरमैन माओ त्से तुंग और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चले चीनी जनता के मुक्ति संघर्ष से सीखने और सशस्त्र संघर्ष मार्ग अपनाने से इनकार करते हैं।”<sup>2</sup>

इस प्रकार, सशस्त्र संघर्ष के कारण जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय या ई.पी.डब्ल्यू. या फ्रंटलाइन के वामपंथी प्रचारक-प्रोफेसरों या मीडिया के रेडिकल पत्रकारों द्वारा दिये गए मनगढ़ंत चाहे भावुक तर्कों में से एक भी नहीं था। उन झूठे तर्कों से नितांत भिन्न नक्सलियों में मात्र सत्ता पर कब्जे की चाहना रही है, चाहे पूरे देश में स्थिति कुछ भी क्यों न हो। सशस्त्र संघर्ष के विषय में सी.पी.आई. (एम.एल.) के पार्टी कार्यक्रम के पाराग्राफ 33 से 37 तक और स्पष्ट घोषणाएँ मिलती हैं—

36. मजदूर वर्ग देश भर में सशस्त्र संघर्ष के छोटे-छोटे अड्डे बनाकर और जनता की राजनीतिक शक्ति को मजबूत करके ही एक सफल जन युद्ध चला सकता है। यह केवल गुरिल्ला युद्ध विकसित करने से ही संभव है जो हमारी जनवादी क्रांति के सम्पूर्ण दौर के लिए संघर्ष का बुनियादी रूप है और रहेगा।

37. जैसा कामरेड लिन पियाओ ने कहा है, “शत्रु के विरुद्ध पूरी जनता की शक्ति को संगठित करने और प्रयोग में लाने के लिए गुरिल्ला युद्ध एक मात्र रास्ता है।” केवल गुरिल्ला युद्ध ही भारतीय जनता की रचनात्मक प्रतिभा को उभारने, उसकी पहलकदमी का पथ-प्रशस्त करने, उनके द्वारा चमत्कार सम्पन्न करने, विभिन्न तरीकों से काम करने और उन तरीकों को प्रभावी रूप से समन्वित कर सकने में समर्थ है। इस प्रकार केवल गुरिल्ला युद्ध ही जन युद्ध की सशक्त तरंगों के माध्यम से सशस्त्र संघर्ष के छोटे अड्डों को बड़े, विस्तृत इलाकों तक फैला सकता है और जन सेना को विकसित कर सकता है जो देहातों में चार पहाड़ के प्रतिक्रियावादी शासन को उखाड़ फेंकेगी, शहरों को घेरकर उन पर कब्जा कर लेगी, पूरे देश में लोक जनतान्त्रिक तानाशाही स्थापित करेगी और पक्के तौर पर उसे सर्वहारा की तानाशाही और समाजवाद तक ले जाएगी।<sup>3</sup>

कृपया इस पूरी, मूल प्रस्थापना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें कि इसका भारत

के किसी भी गाँव या शहर में आर्थिक या जातीय सम्बन्ध की किसी भी स्थिति से क्या लेना-देना है ? इसमें तो वह माओवादी-नक्सली अंधविश्वास कूट-कूटकर भरा हुआ है कि पटना से लेकर बम्बई तक, केरल से लेकर राजस्थान तक, किसी भी शहर या गाँव में कितने ही सद्भावपूर्ण, शान्तिपूर्ण, समृद्धिपूर्ण वातावरण क्यों न हो, माओवादी रंगरूटों को गुरिल्ला युद्ध करना ही करना है। सम्पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था को तहस-नहस करना, सत्ता पर कब्जा करना और वह सारे लोमहर्षक प्रयोग, संहार और विध्वंस करने ही हैं जिन्हें वह चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और माओ से 'सीखना' कहते हैं ! अतः जो भी लेखक, पत्रकार या प्रोफेसर मध्य बिहार में तथाकथित भूस्वामियों के इस या उस दोष अथवा इस जाति या उस जाति के कार्य-विचार को माओवादी हिंसा का प्रेरक बताते हैं, वे या तो अत्यन्त धूर्त या परम मूर्ख हैं। माओवादी हिंसा मात्र उस अंधविश्वास से पैदा हुई है जिसे 'माओ का विचार' कहा जाता था/है।

वह माओवादी कार्यक्रम आज से सैंतीस वर्ष पहले घोषित किया गया था जब कहीं किसी कथित भूस्वामी सेना का दूर-दूर तक पता तक न था। अर्थात्, वह कारक जिसे नक्सली हिंसा के कारण के रूप में पिछले कई वर्षों से लहराया जाता रहा है। पहली नक्सली पार्टी के मूल कार्यक्रम में कहीं किसी ऐसे विशिष्ट शोषण, उत्पीड़न का उल्लेख तक नहीं है जिससे उद्वेलित होकर किसी को जन युद्ध या गुरिल्ला युद्ध करने का विवश होना पड़ रहा हो। वहाँ तो सीधे-सीधे, डंके की चोट पर यह अंधविश्वास है कि केवल गुरिल्ला युद्ध ही जनता की 'प्रतिभा' को उभार सकती है, उसकी 'रचनात्मकता' जगा सकती है, अन्ततः पूरे देश पर कब्जा कर सकती है। यानी सारे काम करने के लिए वही एक मात्र दवा है ! इस प्रकार माओवादी-नक्सली सिद्धान्त में हिंसा और हत्याएँ अन्तर्गठित, अन्तर्निर्मित हैं, चाहे बाहर ठोस जीवन में, गाँव या शहर में सामाजिक वातावरण कैसे भी हों। नक्सली नेता कानू सान्याल ने स्पष्ट लिखा था, "सशस्त्र संघर्ष जमीन के लिए नहीं—राज्यसत्ता के लिए" ( *लिबरेशन*, नवंबर 1968 )। इस सीधी, काँटे की बात को छिपाकर भारत के शिक्षित समाज को मार्क्सवादियों, कम्युनिस्टों और नक्सलियों के बारे में तरह-तरह की रूमानी बातें बताई जाती रही हैं। यदि देश के सच्चे नेतागण नक्सलवाद के सचमुच निपटना चाहते हैं तो इस रूमानियत भरे झूठ को हर अखबार, पत्र-पत्रिका और टी.वी. चैनलों पर चिन्दी-चिन्दी करना भी जरूरी समझें। वस्तुतः नक्सलवाद से गम्भीरतापूर्वक वैचारिक लड़ाई अधिक मूलगामी परिणाम देगी। तब सुरक्षा बलों का काम अपने-आप कम हो जाएगा।

यह समझने की आवश्यकता है कि नक्सली अंधविश्वास के अनुसार 'समाजवाद' तक जाने के लिए *गुरिल्ला युद्ध* करना ही है। इस प्रत्यक्ष, सीधी, मूल प्रस्थापना को छिपाकर दिया गया हर तर्क भ्रामक है। उन तर्कों को तनिक भी मान्यता देना उस मकड़जाल में फंसने का पहला कदम है जिसमें उलझकर चीन, वियतनाम, कंबोडिया आदि देशों के करोड़ों निर्दोष जन-गण मारे गए। पिछले कई वर्षों से नेपाल से लेकर

आंध्र तक जो नक्सली दुष्क्र चल रहा है, उसके मूल में माओवाद रूपी एक घातक राजनीतिक अंधविश्वास है—कोई बाह्य ‘सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ’ नहीं। परिस्थितियाँ, घटनाएँ केवल बहाने हैं, जिसका प्रचार कर नक्सली सूत्रधार और उनके अन्तर्राष्ट्रीय प्रायोजकों द्वारा शिक्षित भारतवासियों की आँखों में धूल झोंकी जाती है। इस बात को ध्यान में रखे बिना माओवाद, नक्सलवाद की पूरी चर्चा निरर्थक है।

जहाँ तक तथाकथित भूस्वामी सेनाओं या उनकी भूमिका का प्रश्न है, तो इसे माओवादी कार्यक्रम व कारनामों के प्रकाश में ही देखना उचित है। आखिर यदि किसी क्षेत्र में कोई सशस्त्र राजनीतिक संगठन ‘गुरिल्ला युद्ध’ तथा ‘वर्ग शत्रु के खात्मे’ जैसे नारों के साथ अवतरित होता है, सामान्य नैतिकता तथा देश के संविधान, कानून को धता बताकर स्थानीय लोगों पर तरह-तरह के फरमान जारी करता है, धमकियाँ देता है तो उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया में क्या-क्या सम्भावनाएँ हो सकती हैं? यह कैसी बौद्धिकता कि किसी दूर देश के क्रूर, सनकी नेता माओ त्से तुंग का अनुकरण करते हुए यहाँ के माओवादियों का मनमाने तौर पर भारत में ‘गुरिल्ला युद्ध’ का राजनीतिक कार्यक्रम रखना तो सहज बात मानी जाए, किन्तु उसके प्रतिरोध का उपाय सोचना ‘भूस्वामियों’ की सामंती ‘मनोवृत्ति’ कहकर लांछित की जाए?

किन्तु बरसों से अनेक पत्रकारों, बुद्धिजीवियों ने यही बौद्धिकता भोले-भाले छात्रों, शहरी लोगों के सामने परोसी है कि स्थानीय किसानों द्वारा माओवादी संगठनों की हिंसा, जबर्दस्ती का प्रतिकार माओवादी राजनीति की प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि उसका कारण है! बरसों से बदनाम बिहार की रणवीर सेना के प्रति बौद्धिक टिप्पणियों को लें। उनसे प्रतीत होता है मानो नक्सली संगठन ही रणवीर सेना का प्रतिरोध करने खड़े हुए हैं। जब कि वास्तविकता यह है कि नक्सली दल ने अपना ‘सशस्त्र संघर्ष’ व तदनु रूप ‘वर्ग शत्रुओं’ यानी किसानों की हत्याएँ करने, उनकी ज़मीनों पर हमले करने और मुक्त इलाके बनाने का आरम्भ 1970 से भी पहले किया। जबकि गंगा-सोन किसान महासंघ (जो रणवीर सेना का पूर्ववर्ती संगठन था) की स्थापना भोजपुर में 1993 में हुई। उसे स्थानीय किसानों ने इलाके में सक्रिय माओवादियों के साथ बातचीत करने हेतु बनाया था, ताकि शान्ति और खेती सुरक्षित रहे। किन्तु किसान सफल नहीं हुए क्योंकि माओवादियों ने प्रत्येक किसान से बीस हजार रुपए, एक बीघा ज़मीन और बन्दूकों की माँग की। किसान इसके लिए तैयार नहीं हुए और तब माओवादियों ने उनकी ज़मीन पर घेरा डाल दिया।<sup>4</sup>

कृपया विचारें, कौन ग़लत था? यदि किन्हीं कारणों से सरकारी मशीनरी किसानों की रक्षा करने में समर्थ या इच्छुक नहीं थी, या दूर-दराज क्षेत्र होने के कारण आकस्मिक हमले की स्थिति में उस पर आश्वस्त नहीं रहा जा सकता था, तो किसानों का आत्मरक्षा के लिए उसी तरह संगठित होना कैसे ग़लत कहा जा सकता है? रणवीर सेना के समर्थक के इस प्रश्न का क्या उत्तर है : “आप क्या करेंगे यदि कोई आपके पिता की

हत्या कर दे, आपकी माँ और बहनों को गालियाँ दे और आपकी ज़मीन छीन ले? यह दो वर्ष तक बाथे में होता रहा जिसकी परिणति हत्याओं में हुई। उन्होंने 30 वर्षों से हमें चुन-चुनकर मारा है। 250 से अधिक लोग मारे जा चुके हैं...।<sup>15</sup> जो लोग तथाकथित भूमि-समस्या को नक्सलवाद का मुख्य कारण मानते हैं, उनके सम्पूर्ण विमर्श में उक्त प्रश्न या यह चुनौती कभी शामिल क्यों नहीं होती : “जिन्हें नक्सलियों ने मारा है, उनमें ऐसे एक भी व्यक्ति का नाम लीजिए जो भला आदमी नहीं था, अथवा जिसके पास वैध सीमा से अधिक ज़मीन थी या जो कोई खूँखार अपराधी था?”<sup>16</sup> यदि यह सच है, जो सच जान पड़ता भी है, तो विचार करें कि हमारे देश का बौद्धिक समुदाय और मीडिया किस मूढ़ स्थिति में है!

यह कड़वा सच है कि नक्सली राजनीति के शिकार मुख्यतः साधारण, निहत्थे किसान और सरकारी कर्मचारी जैसे लोग ही होते रहे हैं। केवल आंध्र प्रदेश में सन् 1968 से 2003 तक 5600 से अधिक लोग मारे गए हैं। इनमें आधे से अधिक सामान्य नागरिक थे। इसी तरह बिहार में केवल 1998-2002 के बीच 810 लोग मारे गए जिनमें 651 सामान्य नागरिक थे। हाल के आँकड़े इससे भिन्न नहीं हैं, यह कोई स्वयं जाँच सकता है। प्रश्न है : ये हत्याएँ और खून-खराबा किस लिए होता रहा? इस पर हमारे वामपंथी लेखकों, पत्रकारों ने सबको बहुत दिग्भ्रमित किया है। किन्तु यदि प्रत्येक नक्सली हमले, विध्वंस और हत्याकांड के समाचारों के पीछे ठोस रूप से अधिक विवरण जानने का प्रयास करें तो कभी शायद ही कोई गम्भीर समस्या, अवैध भूमि छीनने, मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी अथवा किन्हीं वंचित जातियों के मान-सम्मान की लड़ाई रही हो।

स्मरण रहे कि सन् 1964 में सी.पी.आई. से टूटकर सी.पी.एम. का बनना, फिर 1967 में सी.पी.एम. से टूटकर सी.पी.आई. (एम.एल.) यानी पहले नक्सली दल का बनना, फिर उससे टूटकर और अनेक नक्सली गुटों का बनना—इन विभाजनों का किसी गाँव, क्षेत्र या सम्पूर्ण देश की भी वास्तविक जमीनी स्थिति से कुछ लेना-देना न था। इन सभी कम्युनिस्ट दलों के दस्तावेज, तथा एक-दूसरे के बारे में आलोचनाओं को पढ़कर यह एकदम स्पष्ट दिखता है। सभी मतभेद और फूट इस परिकल्पना पर हुए कि *भारतीय सत्ता पर अधिकार करने*, यानी तथाकथित क्रान्ति करने का उपाय क्या हो।

1967 में सी.पी.एम. से फूटकर अलग होनेवाले कम्युनिस्ट (नक्सली) इसी जिद पर अलग हुए थे कि भारत में सत्ता पर अधिकार माओ त्से तुंग के रास्ते पर चलकर, वर्ग-शत्रु का सफाया करके, सशस्त्र संघर्ष करके ही होगा। 1968 में चारू मजूमदार ने अपनी कुख्यात ‘हत्या संहिता’ ही प्रकाशित की थी जिसके अनुसार, “जिसने वर्ग शत्रुओं के खून में अपनी ऊँगली नहीं डुबाई उसे कम्युनिस्ट नहीं कहा जा सकता।” इन्हीं अंध-विश्वासों के अन्तर्गत नक्सली हिंसा होती रही। स्वयं नक्सली नेता विनोद मिश्र ने दूसरे नक्सली गुट को ‘मध्य युगीन कातिलों का गिरोह’ बताया था।

वस्तुतः विभिन्न नक्सली गुटों के दस्तावेजों को पढ़कर आसानी से देखा जा सकता है कि वहाँ केन्द्रीय चिन्ता वह नहीं जिसका भ्रम वामपंथी लेखक, पत्रकार फैलाते रहे हैं। कितनी विचित्र बात है कि जिस सरल सच्चाई को साधारण लोग भी जानते हैं, उस पर भी हमारे बुद्धिजीवी पर्दा डालने की कोशिश करते हैं। नक्सलियों के बारे में आम जनता की समझ है कि वे हत्या की राजनीति करते हैं, फसलें लूटते हैं, जबरन वसूली करते हैं और मजदूरों को बरगला या धमकाकर अपने गिरोह मजबूत करते हैं। तथाकथित भूमि सुधार, मजदूरी आदि के प्रश्न यदि कहीं नक्सली कभी उठाते भी हैं तो यह प्राथमिक तरकीब है जिससे जगह बनाई जा सके। दूसरे शब्दों में, वे सब ऊपरी राजनीतिक प्रसाधन हैं, ताकि मीडिया और वामपंथी किस्म के बुद्धिजीवियों के बीच समर्थन-सहानुभूति पाई जा सके।

नक्सलियों द्वारा ऐसे अनगिनत हत्याकाण्ड हुए जहाँ कोई किसान-मजदूर समस्या सिरे से नहीं थी। जैसे, सेनारी (जहानाबाद) गाँव में मार्च 1999 में। वस्तुतः बिहार में किसानों के प्रतिरोधी संगठन, तथाकथित भूस्वामी सेनाओं का उदय नक्सली हिंसा और लूट-पाट से बचाव करने के उद्देश्य से हुआ था, जब किसानों ने देखा कि राजनीतिक या अन्य कारणों से सरकार उनकी रक्षा करने में या तो अनिच्छुक या असमर्थ है। अतः हिंसा और प्रतिहिंसा के क्रम, उसमें मारे जानेवाले लोग, फसल और सम्पत्ति का नुकसान, नक्सली भय से जमीनों का परती रहना तथा पुलों, सड़कों, रेलवे स्टेशनों का उड़या जाना—यह सभी कारनामों की जड़ में एक अंधविश्वासी, लेनिनवादी-माओवादी विचारधारा है। इसे बिलकुल स्पष्ट समझा जाना चाहिए कि नक्सली हिंसा और प्रतिहिंसा का मूल कारण कोई भूमि-समस्या नहीं, वरन वह विचारधारा है जो हिंसा और हत्याओं के बल पर राजसत्ता पर अधिकार करने का दम भरती है।

वही विचारधारा अपने राजनीतिक उद्देश्य से दुनिया भर में भारत के सभ्यतागत शत्रुओं से भी हाथ मिलाने के लिए तैयार रही है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सी.पी.आई (एम.एल.) के कार्यक्रम में भारत-विखंडन का खुला उद्देश्य भी आरम्भ से ही रहा है। 1970 के मूल कार्यक्रम में ही 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में' अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष करने का आह्वान था। उसी कार्यक्रम का बारहवाँ बिन्दु इस प्रकार है : "ये जनता के दुश्मन 'राष्ट्रीय एकता' के नाम पर सभी राष्ट्रीयताओं और राष्ट्रीय तथा मजहबी अल्पसंख्यकों का दमन कर रहे हैं। कश्मीरियों, नगा, मिजो आदि को आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं दिया जा रहा है।" यह प्रमाणित है कि जो भी इस देश के टुकड़े करना चाहे उसे मदद करने के लिए माओवादी-नक्सली सदैव व्यग्र रहे हैं। वह व्यग्रता आज भी यथावत है। लगभग प्रत्येक नक्सली दस्तावेज में इसकी खुली-छिपी झलक मिलती है।

भारत-विखण्डन सिर्फ कहने की ही बात नहीं, विभिन्न नक्सली दल इसके लिए मोर्चेबंदी भी करते रहे हैं। हाल के वर्षों में भारत के विभिन्न माओवादी संगठनों से

पाकिस्तानी आई.एस.आई. के बढ़ते सम्बन्धों के पीछे और क्या परस्परता है? इसी प्रकार भारतीय नक्सलियों और पाकिस्तानी लश्करे-तोयबा के बीच मेल-जोल<sup>7</sup> के पीछे और कोई आपसी आधार नहीं खोजा जा सकता। कृपया इस तथ्य पर विचार करें—1999 में पाकिस्तान द्वारा कारगिल पर आक्रमण के समय भारतीय नक्सलियों ने विचित्र रूप से शान्तिवादी चोला कैसे पहन लिया था? जो माओवादी देश के भीतर बात-बात में बन्दूक की बात करते हैं, वे कारगिल युद्ध के समय 'निर्दोष लोगों की जान बचाने के लिए' अति-सक्रिय होकर आक्रामक इस्लामी जिहादियों तथा पाकिस्तानी सेना से बातचीत की सलाह दे रहे थे! उदाहरणार्थ, इसके लिए एक नक्सली नेता तथा 'कम्युनिस्ट रिवोल्यूशनरी लीग ऑफ इंडिया' के महासचिव असीम चटर्जी ने अनगिनत लेख लिखे थे।<sup>8</sup> अन्य माओवादी भी वही शान्ति-धुन बजा रहे थे। इस उलटबाँसी का अर्थ स्पष्ट न हो तो इस पर भी ध्यान दें कि नेपाल के माओवादियों की सशस्त्र जमातों में बंगलादेश के इस्लामी जिहादी भी शामिल रहे हैं।<sup>9</sup> दूसरी ओर, नेपाल और भारत दोनों ही जगह माओवादी नेता हिन्दुत्व के विरुद्ध विषवमन करते रहे हैं। इस पूरी प्रक्रिया को जोड़ने वाला सूत्र और मंतव्य क्या है?

कृपया ध्यान दें—'मुक्त इलाकों' का निर्माण और भारत-विखंडन की चाह एक-दूसरे की पूरक इच्छाएँ हैं। हमारे माओवादियों द्वारा कश्मीर, नागालैण्ड आदि कई क्षेत्रों को 'आत्मनिर्णय' का अधिकार दिए जाने की निरंतर वकालत का व्यावहारिक अर्थ हू-ब-हू वही है जो पाकिस्तानी आई.एस.आई. चाहती है। इस तरह की विखंडनवादी माँगें नक्सली दस्तावेजों में शुरू से लेकर आज तक निरंतर बनी रही है।<sup>10</sup> कश्मीर तथा देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के प्रति उसकी भाषा ठीक वही है जो आई.एस.आई. और इस्लामी जिहादियों की भाषा है। इसका सम्बन्ध माओवादियों की राष्ट्र-विरोधी प्रतिज्ञा से है जो उन्हें भारत के सभ्यतागत दुश्मनों से एक करती है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि भारत-विखंडन का षड्यंत्र और भारत के अन्दर हत्याओं की राजनीति इसके लिए हमारे सभी प्रकार के कम्युनिस्ट दोषी रहे हैं। नक्सली संगठन भी उन्हीं कम्युनिस्ट पार्टियों से बने हैं, जिनके लिए देश-भक्ति एक विजातीय अवधारणा है। मार्क्सवादियों का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयतावाद है, जिसके अनुसार "मजदूरों का कोई देश नहीं होता।" जब देश ही नहीं तो देशभक्ति कैसी! उसी प्रकार, उनकी नैतिकता भी सामान्य मानवीय नैतिकता नहीं, बल्कि कम्युनिस्ट नैतिकता है जिसमें मनुष्यों की जान की कोई परवाह नहीं की जाती। यदि इन बातों को सही सन्दर्भ में नहीं समझा जाए तभी यह आत्मघाती भ्रम हो सकता है कि "कम्युनिस्ट गरीब लोगों की राजनीति करते हैं।" सच्चाई यह है कि वे सिर्फ सत्ता पर अधिकार की राजनीति, एक काल्पनिक क्रान्ति की राजनीति करते हैं, जिसमें गरीब लोग उनके लिए औजार के सिवा और कुछ नहीं। प्रसिद्ध लेखक मैक्सिम गोर्की ने सटीक कहा था, कि "लेनिन यूरोप में क्रान्ति भड़काने के लिए रूसी मजदूरों का ईंधन की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं।"

वही बात सभी प्रकार के कम्युनिस्टों के लिए सच है। लेनिन ने सन् 1917 में रूसी तख्ता-पलट करके हिंसा का ही भरपूर प्रयोग किया था। 'क्रान्तिकारी हिंसा' का उनका सिद्धान्त विरोधी दलों का सफाया करने तथा स्वयं अपने सहयोगियों के बीच भी असहमति के किसी भी स्वर को बलपूर्वक कुचलने के अतिरिक्त और कुछ न था। स्तालिन ने उसे ही लोमहर्षक स्तर तक आगे बढ़ाया। अतएव हिंसा से किसी कम्युनिस्ट को इनकार नहीं। आखिर यहाँ भी 1948 में अर्खंडित सी.पी.आई. ने ही सशस्त्र विद्रोह करके सत्ता पर अधिकार करने का विफल प्रयत्न किया था। अतः भारत में हिंसा और हत्या की राजनीति का आरम्भ करने और उसे फैलाने वाले मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही रहे हैं। विभिन्न कम्युनिस्ट दलों में मतभेद केवल इस बात पर होता रहा कि यह हिंसा, कब और कैसे संगठित की जाए ताकि उद्देश्य पूरा हो। इस बात का अनैतिक, भारतीय संविधान विरोधी और समाज-द्रोही चरित्र पहचानना चाहिए। समझना चाहिए कि कम्युनिस्ट राजनीति, विशेषकर इसके माओवादी रूप में देशद्रोह तथा आपराधिकता अन्तर्गठित है।

हमारे देश में भी कम्युनिस्ट राजनीति ने इसे बार-बार दिखाया है। पश्चिम बंगाल में ऐसा कोई राजनीतिक दल नहीं जिसने वहाँ सत्ताधारी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) की हिंसा न झेली हो, ताकि उन्हें चुनौती न दी जा सके। यहाँ तक कि हिंसा का दंश उन वामपंथी दलों को भी झेलना पड़ता है जो सरकार में हिस्सेदार हैं। सैंतीस वर्ष पहले का यह दृश्य देखें, "अकस्मात् बमों, लाठियों, बन्दूकों और अन्य सांघातिक हथियारों से लैस और लाल स्कार्फ बाँधे हुए स्वयंसेवकों का कोई समूह एक इलाके में प्रकट होगा, सड़कों पर एक छोर से दूसरे छोर तक परेड करेगा और अपने राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ जान से मार डालने सम्बन्धी नारे लगाएगा। कभी-कभी अपने अंतर्ध्यान होने से पहले वह अपने मार्च को जीवंत बनाने के लिए कुछ बमों के विस्फोट भी कर देगा। इन सशस्त्र मार्चों का अर्थ बहुत सरल है। माकपा इलाके की जनता से कहती है : बेहतर हो कि आप हमारा समर्थन करें वरना आप हमारे बमों के विस्फोट तो सुन ही चुके और हमारी बन्दूकों को देख ही चुके!"<sup>11</sup> यह निरंतर नंदीग्राम वाली तकनीक है, चाहे हमें इसके बारे में अँधेरे में रखा जाता रहा है। वस्तुतः पश्चिम बंगाल में 1977 से चल रहे अखण्ड मार्क्सवादी शासन में संगठित हिंसा, दमन, छल-छद्म का भी महत्वपूर्ण योगदान है, इस बात से वामपंथी लेखक-पत्रकार समुदाय ने पूरे देश को अँधेरे में रखा हुआ है।

अतएव, नक्सलवादी संगठन भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारणाओं के अन्तर्गत ही अभियान चला रहे हैं। हिंसा; विदेशों से घातक प्रेरणाएँ प्राप्त करना; भारत विखंडन का आग्रह; तथा सामाजिक विध्वंस या 'वर्ग-संघर्ष' को बढ़ावा देने के लिए जाति, समुदाय, मजहब, नस्ल आदि हरेक विभेद को बढ़ाने का यत्न करना; तथा हिन्दू धर्म से मर्मार्थक घृणा—यह विशेषताएँ कमोबेश यहाँ सभी प्रकार के मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों-

माओवादियों में पाई जाती है। अतः नक्सलवादी राजनीति को अन्य मार्क्सवादियों से बहुत भिन्न रूप में देखने की भी गलती नहीं करनी चाहिए। न उन्हें देश के आदिवासियों, भूमिहीनों आदि का समर्थक समझना चाहिए। यह बेचारे तो उनकी निर्मम राजनीति के साधन मात्र हैं। आंध्र प्रदेश में अनेक आदिवासी संगठनों, गिरिजनों, स्वयंसेवी संगठनों, राजनीतिक दलों, अनुसूचित जनजाति संगठनों ने नक्सलियों के ऊपर अत्याचार करने तथा अपना दास बनाकर रखने का आरोप लगाया है। एक प्रतिष्ठित वामपंथी समाचार-पत्र के ही अनुसार आंध्र में नक्सलियों ने पुलिस भेदिया बताकर 194 आदिवासियों की हत्याएँ की हैं।<sup>12</sup> यही नहीं, हाल के वर्षों में नक्सलियों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में धमकी देकर जबरन वसूली, अपहरण करके फिरौती वसूली, तथा अन्य संगठित आपराधिक कार्रवाइयाँ भी बढ़ी हैं।<sup>13</sup> केवल आंध्र प्रदेश में वर्ष 2003-2005 के बीच डेढ़ वर्ष में नक्सलियों ने 50 करोड़ रुपए से भी अधिक वसूले। इससे उनके गरीब प्रेम का असली रूप झलकता है।

इस पृष्ठभूमि में यह बात विरोधाभासी लग सकती है कि हमारे मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी लेखक, प्रचारकगण जिस 'अमेरिकी साम्राज्यवाद' की दिन-रात निंदा करते हैं—उसी के अखबार, पत्रकार और विद्वत संस्थाएँ इनकी भर्त्सना करने के बदले उलटे आदर से इनका क्यों उल्लेख करती हैं? कुछ वर्ष पहले अमेरिकी कांग्रेस ने अपनी लाइब्रेरी की क्लूग पीठ में एक भारतीय मार्क्सवादी प्रचारक-प्रोफेसर को नियुक्त किया। तनिक विचार करें—जिस अमेरिका ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा से चार दशक तक लोहा लिया, उसने एक मार्क्सवादी प्रोफेसर को महत्वपूर्ण विद्वत्-पीठ में क्यों नियुक्त किया? पश्चिमी मीडिया कम्युनिज्म का दुश्मन रहा है। तब उसने भारतीय कम्युनिस्टों के लिए क्यों दोहरे मानदंड अपना रखे हैं? वह क्यों अन्तर्राष्ट्रीय पाठक वर्ग के समक्ष भारतीय मार्क्सवादियों को बड़े विद्वानों या विश्वसनीय टिप्पणीकारों के रूप में उद्धृत करता रहता है?

इन टेढ़े प्रश्नों का उत्तर तभी मिल सकता है जब हम भारत के प्रति अमेरिकी विदेश नीति और भारतीय मार्क्सवादियों की वैचारिक, राजनीतिक स्थितियों का ध्यान से अध्ययन करें। भारतीय इतिहास व हिन्दू समाज के प्रति जिन धारणाओं का हमारे मार्क्सवादी प्रचार करते हैं, वह मूलतः औपनिवेशिक, साम्राज्यवादी, ईसाई मिशनरी लेखकों द्वारा दी गई धारणाएँ ही हैं। भारत के हिन्दू अतीत को गृहित, उपेक्षणीय बताना, किन्हीं बाहरी आर्यों के आक्रमण से भारतीय सभ्यता का निर्माण हुआ बताना, इस्लामी शासकों के युग को सांस्कृतिक योगदान का काल बताना, आदि वैसी ही घातक धारणाएँ हैं जिन्हें स्वतन्त्र भारत के शिक्षित हिन्दुओं के दिलो-दिमाग में ठोंक-ठोंककर बिठाया जाता रहा है। आज भारत में इन धारणाओं के सबसे कट्टर प्रचारक मार्क्सवादी विद्वान ही हैं। तब अमेरिकी या अन्तर्राष्ट्रीय मिशनरी उन्हें क्यों न प्रयोजित करें! भारतीय अस्मिता का दमन भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा: लो इन्वेस्टमेंट, हाई रिटर्न!!



अभी अमेरिकी विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय ईसाई मिशनरी तंत्र भारत को राजनीतिक-बौद्धिक रूप से जैसा चाहता है, हमारे मार्क्सवादी बुद्धिजीवी भी जाने-अनजाने भारत को उसी स्थिति में रखना चाहते हैं। भारतीय मार्क्सवादी द्वारा कश्मीर को इस्लामी व पाकिस्तान-परस्त रूप में देखना, विभिन्न प्रश्नों पर देश-विदेश में भारत की खिल्ली उड़ाने रहना भी वास्तव में अमेरिकी-मिशनरी नीति के अनुकूल पड़ती है। वे इसका प्रचुर लाभ उठाते हैं और भारत सरकार व मीडिया पर दबाव भी डालते हैं।

कुछ समय से भारत के नक्सली संगठनों ने कई देशों के रेडिकल माओवादियों के 'रिवोल्यूशनरी इंटरनेशनल मूवमेंट' (आर.आई.एम.) से हाथ मिलाया है। इस मोर्चे का एक महत्वपूर्ण निशाना भारत है। वे भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र को भारत से तोड़कर अलग कराना चाहते हैं।<sup>14</sup> नेपाल में माओवादी दबदबे की वृद्धि में भारतीय माओवादियों, यहाँ तक कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का भारी सहयोग रहा है। जबकि नेपाली माओवादियों की भारत के प्रति घोर शत्रुता एक खुली नीति रही है।<sup>15</sup> अतएव, भारत के विखंडन का प्रयास अथवा इसकी अखंडता के प्रति कोई आग्रह न रखना, भारतीय राज्य व सरकार को किसी-न-किसी तरह कमजोर करना ही वह मर्मभूत तत्त्व है जिस कारण विभिन्न अमेरिकी-यूरोपीय संस्थाएँ, संगठन हमारे कम्युनिस्ट लेखकों, विद्वानों को प्रचार देते हैं। हमारे राष्ट्रीय कर्ता-धर्ता इसे नोट करें। पाकिस्तान में भी भारतीय वामपंथियों, रेडिकलों को बड़े प्रेम से देखा जाता है। इन तमाम बातों को सही संदर्भ में रखकर देखें तभी भारतीय मार्क्सवादियों के प्रति पश्चिमी मीडिया और थिंक टैंकों के लगाव को समझा जा सकता है।

अभी माओवादियों के हाथों नेपाल का विध्वंस भारत के लिए बड़े संकट का सूचक है जो भारतीय बुद्धिजीवी नेपाल में माओवादियों के वर्चस्व या 'लोकतंत्र की जीत' पर प्रसन्न हो रहे हैं, वे अपने भविष्य पर पड़ रही काली छाया से अनजान हैं। मई 2006 से नेपाल में जो हो रहा है, उस का गम्भीरता से मूल्यांकन करें। कूटनीतिक, रणनीतिक रूप में नेपाल के इस्लामी तथा अमेरिकी मिशनरियों के हाथों में जाने के अनगिनत खुले संकेत मिल रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि नेपाल की दुर्गति में भारत के सेक्यूलरवादी नेताओं का भी बड़ा हाथ रहा है। हमारे देश के गणतंत्र दिवस समारोह में प्रत्येक वर्ष किसी-न-किसी विदेशी राज्य-प्रमुख को मुख्य अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया जाता है। क्या कभी नेपाल नरेश को इसके लिए आमन्त्रित किया गया? हमने हिन्दू होकर भी जगत के एक मात्र हिन्दू राष्ट्र के प्रति जो व्यवहार किया है, उससे दुनिया के सामने हम स्वयं गिरे हैं। हमारे ऐसे व्यवहार से कोई मुस्लिम या ईसाई देश हमारे 'सेक्यूलरिज्म' से प्रभावित नहीं हुआ। उलटे मन-ही-मन हँसा है।

मई 2006 में सत्ता हथियाकर नेपाली माओवादियों ने पहला कार्य किया कि नेपाल के 'हिन्दू राज्य' नाम को बदलकर 'सेक्यूलर राज्य' कर डाला। क्या यह जनता

की माँग थी? जी नहीं। तो इससे किनको लाभ होने वाला है? दूसरे, जिन लोगों ने नेपाल की पहचान बदल डाली, क्या उन्हें जनता की ओर से कोई अधिकार भी मिला था? याद रहे, वहाँ अंतरिम, कामचलाऊ सरकार थी। अर्थात्, किसी वैध, जनादेश प्राप्त सत्ता का गठन होना शेष था। किन्तु बिना किसी जनाकांक्षा के इसी कामचलाऊ सरकार ने तुरत-फुरत नेपाल की सभ्यतागत पहचान और देश का संविधान बदल डाला। क्यों, किनके कहने से? किनके हित-साधन में? इसी कामचलाऊ सरकार ने तुरन्त अपना निशाना पशुपतिनाथ मन्दिर पर भी साधा और उसे जाँच के लिए अपना लेखा दिखाने को कहा। इस सरकार की यह किस प्रकार की वरीयताएँ हैं? यदि हम इन मोटी बातों पर भी ध्यान देने से इनकार करते हैं तो वास्तव में हमारे देश का भवितव्य चिन्ताजनक है। नेपाल में किसी तथाकथित लोकतंत्र की जीत नहीं हुई है, बल्कि लोकतंत्र के दुश्मन लेनिनवादी-माओवादी संगठनों का षड्यंत्र सफल हुआ है, जिसमें बाहर की उन शक्तियों का भी सक्रिय सहयोग है जो भारत के विरुद्ध लम्बे समय से सचेष्ट हैं।

जब नेपाल के राजा ने देश की स्थिति बिगड़ती देखकर उस पर नियंत्रण करने के लिए प्रतिनिधि सभा (संसद) को भंग किया था तो हमारे बुद्धिजीवियों द्वारा इसे 'लोकतंत्र पर हमला' कहकर दुत्कारा गया था। किन्तु नेपाल नरेश को सत्ताच्युत कर माओवादियों ने अंतरिम सरकार से जब पहली बात की तो उसके प्रतिनिधि ने उसी संसद को भंग करने की भी माँग की। तब हमारे किसी बुद्धिजीवी को यह सीधे माओवादी तानाशाही नहीं प्रतीत हुई! माओवादी नेता प्रचंड द्वारा नेपाल नरेश को 'फाँसी' या 'देशनिकाला' देने की धमकी या 'हत्या की सम्भावना' बताना क्या लोकतांत्रिक नीति है? इसके प्रति हमारे बौद्धिक क्यों मौन रहे? फिर पिछले डेढ़ वर्ष से नेपाल में माओवादियों के विरुद्ध और नेपाल-नरेश के समर्थन में तथा हिन्दू राष्ट्र की पहचान के पक्ष में जितने भी स्वर उठे, प्रदर्शन हुए, उन सबके बारे में भारतीय मीडिया में कोई समाचार नहीं आए। क्यों?

नेपाल में माओवादियों की बढ़त के पीछे हिंसा और आतंक का दबाव था, इसे भी भारतीय जनमत के समक्ष नहीं रखा गया। पिछले ग्यारह वर्ष में नेपाल में माओवादी विध्वंस में जो 15,000 से अधिक जानें गईं, वह किनकी थीं और क्यों गईं, कभी इसका हिसाब लेने का प्रयास हमारे बुद्धिजीवियों ने नहीं किया। प्रसिद्ध अमेरिकी साप्ताहिक पत्रिका *टाइम* (18 अप्रैल, 2005) को प्रचंड ने कहा था कि दस वर्ष पहले उसके पास न तो कोई आधुनिक हथियार थे, न ही प्रशिक्षित लड़ाके। तो कुछ ही वर्षों में इतने भरपूर संसाधन कहाँ से, किन शर्तों पर आए? इसमें संदेह नहीं, कि हमारे मीडिया के महानुभावों, स्वयंभू नीति-निर्माताओं और तरह-तरह के बुद्धिजीवियों ने अपनी वैचारिकता के नशे तथा नेपाल नरेश के प्रति अपनी निजी नापसंदगी के कारण भारतीय हितों को मुफ्त बलिदान कर दिया। नेपाल अब क्रमशः ऐसी शक्तियों के हाथ जा रहा है जो उसे हमारे

लिए दूसरा पाकिस्तान बनाने के इच्छुक हैं। माओवादी नेता प्रचंड ने स्पष्ट घोषणा की है कि माओवादियों का अन्तिम लक्ष्य 'भारत के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध' चलाना है।<sup>16</sup> उसी नेता का हमारा मीडिया विगलित होकर स्वागत करता है, उसके बयान उत्साह से, सकारात्मक टिप्पणियों के साथ प्रसारित करता है! कितना ठीक कहा था वी.एस. नायपॉल ने कि भारत का अंग्रेजी मीडिया अपने ही देश के बारे में समाचार इस तरह प्रस्तुत करता है मानो किसी दूसरे देश के बारे में बता रहा हो।

यदि इन सभी बातों पर हम लोग अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से विचार कर समुचित निष्कर्ष नहीं निकालते तो माओ की धारणा को ही पुष्ट करेंगे जिनका मानना था कि भारतीयों में कोई चरित्र नहीं है, 'जो खोखले शब्दों के भंडार' हैं तथा 'भारत एक मंदबुद्धि गाय है जो किसी बैसाखी पर टिकी है'। यदि हम नक्सलवाद को सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की प्रतिक्रिया समझते रहे, तो भारतवासियों के बारे में माओ की टिप्पणी को निस्संदेह सही प्रमाणित करेंगे।

### संदर्भ

1. देखें, "प्रोग्राम ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट)", सेन, पंडा और लाहिड़ी, *नक्सलबाड़ी एण्ड आफ्टर* (कलकत्ता : कथाशिल्प, 1978), पृ. 275-284.
2. वही.
3. वही.
4. *द हिन्दुस्तान टाइम्स*, नई दिल्ली, 28 फरवरी, 1999.
5. वही.
6. वही.
7. "पी. डब्ल्यू. जी. लिंक्स विद कश्मीर अल्ट्राज बेयर्ड", *इंडियन एक्सप्रेस*, नई दिल्ली, 29 सितंबर, 1998; "पी. डब्ल्यू. जी. हैज लिंक्स विद टेररिस्ट्स", *द पायोनियर*, नई दिल्ली, 6 जनवरी, 2000; "नक्सलाइट्स मिक्स अप विद आई.एस.आई...", *रिडिफ डॉट कॉम*, 6 मार्च, 2000; शाहिद परवेज, "पी. डब्ल्यू. एम. सी. सी. प्लान सबकॉन्टिनेंटल रिवोल्यूशन", *द स्टेट्समैन*, कोलकाता, 26 अक्टूबर, 2003.
8. असीम चटर्जी, "कारगिलोनोमिक्स : लेट अस मेक पीस, नॉट वार", *द एशियन एज*, नई दिल्ली, 2 जुलाई, 1999.
9. "आतंक से एकजुट", *इंडिया टुडे*, हिन्दी साप्ताहिक, नई दिल्ली, 3 अप्रैल, 2002.
10. निकट काल की स्थिति के लिए देखें, बी. रामन, "नेपाल माओइस्ट्स, इंडिया एण्ड चाइना", पेपर नं. 446, साउथ एशिया एनालिसिस ग्रुप, 14 अप्रैल, 2002.
11. *पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का आतंक*, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी प्रकाशन, 1970.

12. द हिन्दू, नई दिल्ली, 11 जनवरी, 2002.
13. दैनिक भास्कर, फरीदाबाद, 31 जनवरी, 2002; प्रभासाक्षी डॉट कॉम, 6 जनवरी, 2002.
14. विस्तृत विवरण के लिए देखें, बी. रामन, "नेपाल माओइस्ट्स, इंडिया एण्ड चाइना", पेपर नं. 446, साउथ एशिया एनालिसिस ग्रुप, 14 अप्रैल, 2005.
15. द इकॉनॉमिस्ट, लंदन, 2 नवम्बर, 2000.
16. कंचन गुप्ता, "सेलिब्रेटिंग इंडियाज लॉस", द पायोनियर, नई दिल्ली, 25 मई, 2006 में उद्धृत।

**DIALOGUE QUARTERLY**  
**Journal of Astha Bharati, Delhi**

**Special Numbers:**

Illegal Migration from Bangladesh  
Central Asia  
Fiscal Mismanagement in North East India  
Maoist Insurgency in Nepal and India  
India: Security Dimensions,  
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip  
South-East Asia  
Secularism: India in Labyrinth  
India's Neighbourhood  
Governance in the North-East  
Policing in India  
India and Central Asia  
Population Issues  
Naxalism  
Indo-Pakistan Relations & Kashmir  
Media in India  
India's North East  
India: Political Culture, Governance & Growth  
Understanding India  
India: The Internal Security  
Education in India  
India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy  
Caste, Community and Social Justice  
India's Encounter with the West

**Forthcoming Special Issues**

India: Meeting the Terrorist Threat

## नहीं ली हिन्दी ने प्राणशक्ति भारतीय भाषाओं और जनभाषाओं से

पुष्पपाल सिंह \*

आज हिन्दी वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठा पाने के लिए प्रयत्नशील है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक भाषा बनने का स्वप्न, समस्त विश्व में प्रचार-प्रसार पाने की दुर्दम्य कामना, ज्ञान-विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की दुनिया में अपना पसारा फैलाने का जी-तोड़ प्रयत्न, विश्व के समुन्नत राष्ट्रों की राजधानियों में अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा जनसम्पर्क की एक तेज मुहीम हिन्दी संसार में पूरी सक्रियता में दिखाई देती है। इस वर्चस्व की लड़ाई में उसके आगे एक आदर्श मानक-रोल मॉडल-अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी के प्रतिष्ठित कोशों में प्रति वर्ष एक लाख से ऊपर नए शब्दों का समावेश लिखित रूप में होता है, 'वाचिक परम्परा' में इन शब्दों की संख्या निश्चय ही और भी अधिक होगी। किसी भी भाषा की बनत में उसके समाचार-पत्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। इधर हिन्दी में 'सबसे अधिक बिक्री' का दावा पेश करने वाले अग्रणी अखबारों में हिन्दी को अधिकाधिक भ्रष्ट, प्रदूषित करने की होड़ मची हुई है। वे एक नई भाषा विकसित कर रहे हैं जिसको कल तक 'हिंग्रेजी' नाम दिया जा रहा था तो अब 'पन्हिंगलिश' (पंजाबी-इंगलिश-हिन्दी) का नाम ही नहीं दिया जा रहा है अपितु इस ओर नए-नए प्रयोग नित्य देखने में आ रहे हैं। हिन्दी का अखबार कौन-सी भाषा सृजित कर रहा है और उसके पीछे क्या उद्देश्य है, समझ में नहीं आ रहा है। आज जब अंग्रेजी के अखबार अनेक हिन्दी शब्दों को अपना रहे हैं, अंग्रेजी विज्ञापन की दुनिया में हिन्दी शब्दों और मुहावरों के बिना काम ही नहीं चल रहा, तब हिन्दी समाचार-पत्र एक उलटी दिशा तय करने में लगे हुए हैं।

हिन्दी अखबार ही नहीं, हिन्दी लेखक, विभिन्न भारतीय भाषाओं के हिन्दी अनुवादक आदि हिन्दी के लिए भारतीय भाषाओं और जनभाषाओं-बोलियों की उस अपार क्षमता का दोहन नहीं कर पाए जिससे हिन्दी को प्राणशक्ति मिलती। विभिन्न भारतीय भाषाओं के अनुवादक हिन्दी में अंग्रेजी की शब्द-छाया तो देने का प्रयास करते हैं जिससे अनुवाद में एक भौंडापन आता है, किन्तु वे अपनी भाषा की अर्थ-छवियाँ,

\* 63, केशर बाग, पटियाला।

भाषा की आकर्षक भंगिमाएँ हिन्दी को नहीं दे पाए। यदि हिन्दी के लिए भारतीय भाषाओं और जनभाषा की, शब्द सम्पदा का दोहन कर उनसे प्राणशक्ति ली जाती तो निश्चय ही हिन्दी को 'पन्डिंगलिश', 'हिंग्रेजी', आदि का सहारा न लेना पड़ता। कुछ कथाकारों द्वारा अपनी बोलियों, जनभाषाओं और प्रांतीय प्रभावों को आत्मसात करने की चेष्टा भी हुई किन्तु एकाध लेखक के ये प्रयोग केवल उसके ही होकर रह गए। यदि वे शब्द अर्थ-सक्षम और प्रभावी थे तो अन्य लेखकों द्वारा भी उन्हें अधिगृहीत किया जाना चाहिए था—पर ऐसा हुआ नहीं। अपनी भाषा और बोलियों के शब्दों की विभिन्न रंगत लिए लगभग समानार्थी और पर्याय-से लगते शब्द किस प्रकार अनुवाद में एक अलग ही प्रभाव छोड़ सकते हैं, अधिकांश अनुवादक इस बात से बेखबर नज़र आते हैं। भाषा में पर्यायवाची, समानार्थी शब्द होते ही नहीं, यह तो छोटी कक्षा के विद्यार्थियों के मानसिक शब्दकोश को समृद्ध करने के साधन-मात्र हैं। जनभाषा के प्रयोगकर्ता भाषा के इस मर्म से भली-भाँति परिचित हैं। वहाँ विभिन्न प्रसंगों में यथा-अवसर, जिस प्रकार शब्दों का सटीक प्रयोग किया जाता है, प्रयोगकर्ता का बुद्धि-कौशल और भाषा विवेक देखकर आश्चर्य होता है। इसके उलट कोश से उठाए गए शब्दों से निर्मिति पाती अनुवाद-जीवी भाषा के कतिपय उदाहरण देखकर इस तथ्य की संपुष्टि की जा सकती है कि अपनी भाषा-बोलियों के शब्दों की अर्थ-छवि को ग्रहण न कर हमने हिन्दी का कैसा अहित किया है। मेरे सामने हिन्दी के सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रकाशन-गृहों में से एक के विश्व के श्रेष्ठ (क्लासिक) उपन्यासों-कहानियों में से चार अनूदित पुस्तकें रखी हैं—इनकी शब्दकोशों से उठाई गई शब्दावली किस प्रकार 'कृत्रिम भाषा' की निर्मिति कर रही है यह द्रष्टव्य है। उद्धरणों के नीचे अपना अनुवाद प्रस्तुत करने की चेष्टा हुई है—

1. "ले वारअ कोयला-खान अन्धकार में से उभरने लगी थी। आग के आगे चिन्ताभंग-सा बैठा एतियन हाथ ताप रहा था।"
- \* ले वरिअ कोयला खान के अँधेरे में से निकलती दिखाई दी। एतियन आग के आगे चिन्ताभंग बैठा ताप रहा था।
2. "उसकी मसृण कोमल त्वचा जो थी, वह किसी ऐसी बैठी-ठाली औरत की ही हो सकती थी जिसने कोयले के टुकड़े को कभी हाथ तक न लगाया हो।"
- \* उसकी कोमल चिकनी त्वचा बता रही थी कि यह वह बैठी ठाली औरत है जिसने कोयले को कभी छुआ तक नहीं।
3. "चूँकि सेसील के चेहरे पर झिल्ली पड़ी थी, इसीलिए दूर से देखने पर कुछ औरतों ने समझा कि यह तो मदाम हेनबो है। दूसरी औरतों ने सोचा यह तो मदान हेनबो की कोई सहेली है—यानी कि पड़ोस में रहने वाले किसी कारखानादार की पत्नी है...।"

- \* सेसील का चेहरा जालीदार कपड़े से ढँका था, इसीलिए दूर से लगा कि..., यह तो मदाम हेनबो की कोई सहेली है, किसी पड़ोसी कारखाने वाले की पत्नी। —तीनों उद्धरण एमील जोला कृत 'उम्मीद है, आएगा वह दिन' से।
4. मेरे महबूब, मुझे इन तमाम लोगों से दूर ले चलो।  
'प्रिय मुझे इन सबसे दूर ले चलो।'
5. "यह खुद में गुम तन्हा-तन्हा जीना है। बेशक रिश्ते-नाते हैं, दोस्त-यार हैं और बेशुमार हैं, लेकिन उसको उनसे ज्यादा गर्ज नहीं है।"  
—कैथरीन मैन्सफील्ड की 'गार्डन पार्टी और अन्य कहानियाँ' से।
- \* "यह खुद में खोए हुए एकाकीपन को सहना है। चाहे कितने ही रिश्तेदार हैं, दोस्त-यार हैं, लेकिन उसको उनसे ज्यादा मतलब नहीं।"
6. क्योंकि हमारे सामने अकाट्य तथ्यों की एक पूरी शृंखला है?  
\* "क्योंकि हमारे सामने कितने ही अकाट्य तर्क हैं।"
7. तो मैं जो हूँ वह इसलिए हूँ क्योंकि यह अपरिहार्य था कि मैं ऐसा ही होऊँ।  
\* तो मैं जो भी हूँ इसलिए हूँ कि वैसा हो सकता था।
8. "ठीक है, तो मैं इस मानवाकृति को उसके घ्राण सम्बन्धी धागे लौटाती हूँ और वह सूँघने लगती है...।"  
\* ठीक है, मैं इस मनुष्य को उसके सूँघने की सामर्थ्य के धागे लौटाती हूँ, वह सूँघने लगती है।
9. "मारोन्दो तब एक गाँव हुआ करता था, मिट्टी और सरकंडों से बने बीस-एक घरों का—एक नदी किनारे जिसके, साफ़-सुथरे पानी तले बड़े-बड़े चिकने सफेद पत्थर ऐसे दीख पड़ते थे जैसे प्रागैतिहासिक अण्डे।"  
\* मारोन्दो तब नदी के किनारे का एक गाँव था, मिट्टी और फूस से बने बीस-एक घरों का जिसके साफ़-सुथरे पानी में पड़े बड़े-बड़े, चिकने पत्थर प्रागैतिहासिक अण्डों से दीखते थे।
10. "मोमबत्तियों का जोड़ा लाई थी, उसने बड़ी रहस्यमयी आश्वस्त के साथ कहा: XXX मधुमास खत्म होते ही ओलियन सेगुन्दो फिर उसके घर आया।"  
\* दो मोमबत्तियाँ साथ लाई थी, उसने बड़े रहस्यपूर्ण और विश्वासभरे शब्दों में कहा—XXX हनीमून खत्म होते ही ओलियन सेगुन्दो...।
11. "ओलियनों सेगुन्दो फिर उसके घर आया।"  
\* मेन पर नौ-नौ पारियाँ चली, गुसलखाने के लिए समय निर्धारित करना पड़ा और चालीस तिपाइयाँ उधार लाने का बन्दोबस्त करना पड़ा...।  
—गुबिएल गार्रीया मार्केज के 'एकान्त के सौ वर्ष'।

\* मेज पर नौ-नौ बैठकों में लोगों ने खाना खाना, गुसलखाने में बारी लगानी पड़ी और चालीस तिपाइयाँ उधार लानी पड़ीं।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि किस प्रकार अनुवादजीवी कृत्रिम भाषा हिन्दी को मार रही है—अपनी बोली-बानी का शब्द-विन्यास तथा वाक्य-संरचना, कथन-भंगिमा अनुवाद को प्रभावी रूप दे सकता है।

भारतीय भाषाओं से हिन्दी किस प्रकार अपनी प्राणशक्ति ग्रहण कर सकती थी, इस बात को कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। जिन राज्यों को द्विभाषी राज्य कहा गया—पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, आदि उनकी भाषाओं से हिन्दी का बहुत अच्छा सहकार हो सकता था। महाराष्ट्र इस दिशा में सबसे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। आज हिन्दी भाषी क्षेत्र में 'स्टैण्ड'—बस स्टैण्ड, रिक्शा स्टैण्ड, आदि बहुप्रचलित शब्द हैं। मराठी में इसके लिए 'स्थानक' का प्रयोग है, न केवल हिन्दी में प्रयुक्त 'स्टैण्ड' वाली जगहों के लिए अपितु अन्य स्थानों के लिए भी। महाराष्ट्र के शहरों-कस्बों में चले जाइए और जगह-जगह ऐसे नामपट्ट देखिए—'रिक्शा स्थानक', 'बस स्थानक', 'पुलिस स्थानक', 'डाक स्थानक' आदि। यह शब्द सामान्य जन के लिए भी कितना गृहणीय और सुकर होता यदि हिन्दी पट्टी में इसका प्रयोग किया जाता। इन सब स्थानों को 'स्थानक' से सूचित करना कितना प्रिय हो सकता था, लेकिन गए हम 'स्टैण्ड' की ओर। हिन्दी पट्टी के ट्रकों-बसों, आदि के पास पीछे लिखने के लिए अंग्रेजी में 'कीप ए' सेफ डिस्टेंस के अतिरिक्त कुछ नहीं है, महाराष्ट्र में चलती बसों-ट्रकों के पीछे आम लिखा मिल जाएगा—'सावकाश चाल्या।' यदि इसे हिन्दी में 'सावकाश चलिए' लिखा होता तो क्या ही अच्छा होता। उत्तर में 'यूनिवर्सिटी' के लिए कोई समुचित शब्द नहीं मिल पाया कहीं नहीं ढूँढ़ा गया। महाराष्ट्र में थड़ल्ले से 'विद्यापीठ' का प्रयोग हो रहा है। विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की वरीयता-क्रम में तीन श्रेणियाँ हैं—प्रोफेसर, रीडर और लेक्चरर-हिन्दी भाषी क्षेत्र इन्हीं का प्रयोग कर रहा है—प्रोफेसर के लिए 'आचार्य' का प्रयोग बड़ा भारी-भरकम लगता है जिसकी गरिमा को सँभाल पाना हरेक के बूते की बात नहीं—महाराष्ट्र में रीडर को 'प्रपाठक' रूप प्राप्त हुआ, यह हिन्दी में बहुत आसानी से खप सकता था।

पंजाबी भाषा की ओर आएँ तो कितने ही पंजाबी शब्द हिन्दी में और अधिक मात्रा से खपकर उसकी अभिव्यक्ति को समृद्धि प्रदान कर सकते थे। किसी को दफ्तरी व्यवस्था के जंजाल में उलझाने के लिए या किसी भी रूप में फिजूल में ही परेशानी देने के लिए यहाँ 'गधीगेड़' का प्रयोग मिलता है, जैसे गधा विवेकहीन चकरघिन्नी काटता है। इस शब्द का प्रयोग हिन्दी को पंजाबी लेखकों द्वारा भी नहीं दिया जा सका। दफ्तरी पत्राचार में अनेक ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं जिनसे हिन्दी को नई ऊर्जा मिल सकती है। अंग्रेजी के 'टू एनश्योर' के लिए पंजाबी कार्यालयी भाषा में प्रायः ही प्रयोग किया जाता है 'इस गल नूँ यकीनी बनाया जावे'। इसके जोड़ की अभिव्यक्ति हिन्दी में नहीं है। इसी



प्रकार मौजूबात के लिए पंजाबी में 'ढुकवाँ' का प्रयोग है, यह हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल आसानी से ढल जाएगा। बहुत जोश से बढ-चढकर किसी समागम में भाग लेने के लिए पंजाबी में आह्वान है 'खूब हुमहुमाकर भाग लेना'। ऐसे शब्दों में अह्वान का जो आग्रहभरा आमंत्रण है, वह स्वतःस्फूर्त-सा लगता है। इसी प्रकार पंजाबी कार्यालयी भाषा के पत्राचार में जो विनम्रता भाव दर्शाया जाता है, वह सहज ही मोहता है—'बेनती है', 'बेनती की जांती है', 'खेचल करना जी', 'समझा जावे जी'—गोया बिना जी के कोई बात कही नहीं जाती हो। हिन्दी सुविधापूर्वक इन अभिव्यक्तियों को अपना सकती है। कहीं यथावत् तो कहीं अपने रंग में रँगकर। इसी प्रकार विचार-विमर्श, चर्चा, के लिए यहाँ 'विचार वटांदरा' या 'विचार साँझी' करना प्रयोग है, कितना अर्थ-सक्षम, कितना माकूल। किसी समाज के सम्मान्य सज्जनों को सम्बोधित करने के लिए पंजाबी में शब्द है 'पतवंते सज्जनो'—'पतवंते'—पत रखने वाले—जैसा शब्द पंजाब और राजस्थान के रणबाँकुरों का ही शब्द हो सकता था, ऐसा मेरा विश्वास है। पंजाबी में आजकल एक शब्द विचार-चर्चा में खूब प्रयुक्त हो रहा है, 'आर्थिकता'—इसे हिन्दी में यथावत् ग्रहण किया जा सकता है। बंगाल के 'भद्रलोक' को भी हम आत्मसात नहीं कर पाए वहाँ का 'भीषण सौन्दर्य' भी नहीं देखा जिसे 'भीषण पढाकू' आदि सन्दर्भ दिए जा सकते थे। बंगाल, कोलकाता विशेषतः जिस प्रकार हिन्दी संस्कृति का एक केन्द्र रहा, उसके अनुपात में हम वहाँ से सक्षम शब्दों का अधिग्रहण नहीं कर पाए। उसी के निकटवर्ती उड़ीसा, से बहुत से शब्दों को हिन्दी अपना बना सकती है। ओड़िया की संस्कृतबहुला प्रकृति से उनके अनेक शब्द आत्मसात किए जा सकते हैं। 'कल' के लिए ओड़िया में दो शब्द हैं जो उनकी कालगत स्थिति को स्वतः स्पष्ट कर देते हैं—'आसुंताकाली कल' और 'गता काली कल'—हम सुविधापूर्वक इन्हें 'आगामी कल' और 'गत कल' कह सकते हैं। प्रसंगात् कहे तो ओड़िया भाषा इस बात का बहुत प्रत्यक्ष उदाहरण है कि शब्दों में कठिन और सरल जैसा कुछ नहीं होता, शब्द प्रयोगकर्ता के घनिष्ठ परिचय में होना चाहिए। वहाँ छोटी कथा के छात्रों को 'शादी' और 'दूध' समझाना कठिन है, किन्तु 'परिणयों' (परिणय) और 'खीर-खीरो' (क्षीर) समझाना आसान हैं।

जनभाषा, बोलियों, की शब्द-सम्पदा का भी दोहन हिन्दी पूरी तरह नहीं कर पाई। जनभाषाओं से कटकर या उनकी क्रोड़ में न जाकर हम अनावश्यक रूप से अंग्रेजी शब्दों का लबादा लाद रहे हैं। जनभाषा के प्रयोगकर्ता, अनपढ़ 'मानस' (माणस) को शब्दों की विभिन्न अर्थ-ध्वनियों, शेड्स, को पहचानने की जो तहजीब है, वह परिनिष्ठित भाषा के प्रयोगकर्ता के पास नहीं है। पहले यह उदाहरण लिया जाए कि जिन शब्दों के लिए आज इस विदेशी भाषा/भाषाओं की ओर दौड़ रहे हैं, इनके लिए हमने कभी अपनी बोलियों के खजाने को नहीं टटोला। 'टूथ पिक' के लिए नई पीढ़ी के पास अपनी भाषा में कोई शब्द नहीं है, किन्तु मुझे 'कुरेदनी', 'दाँत कुरेदनी' याद

आती है जो कभी पीतल, ताँबे, और चाँदी की बनी मिला करती थीं। 'आया', 'माई', 'मेड' आदि शब्दों से हम घर में काम करने वाली बाइयों को चीन्हते हैं, किन्तु आज से प्रायः 137 वर्ष पूर्व 1870 ई. में प्रकाशित हिन्दी के प्रथम उपन्यास—'देवरानी-जेठानी की कहानी' (पं. गौरीदत्त) में इनके लिए 'टहलवी' शब्द का प्रयोग हुआ है—जो 'टहल' उठाए सो 'टहलवी'। यह उपन्यास, जब भाषा अंग्रेज़ी की इतनी मुखापेक्षी नहीं हुई थी, अनेक ऐसे शब्द हमारे सामने बोलियों से उठाकर रखता है जिनके लिए हम आज भी अंग्रेज़ी के मुखापेक्षी हैं। किसी के द्वारा मौखिक सन्देश भेजने के लिए हम 'सन्देश' या 'मैसेज' का जो प्रयोग करते हैं वह उतना अर्थ-सक्षम नहीं जितना 'कहलावत'—जो कहलाया गया है। जनभाषा के जानदार मुहावरे लोकोक्तियाँ भी परिनिष्ठित हिन्दी नहीं अपना पायी—'अपना मरण जगत की हाँसी', 'घर तीन-तेरह कर दिया', जैसे सक्षम प्रयोग आज हिन्दी से क्यों गायब हैं? कितने ही शब्द-युग्मों के प्रयोग से बोली में अद्भुत अर्थ-संप्रेषण क्षमता होती है, जिसे परिनिष्ठित भाषा अपनाकर कृत-कृत्य हो सकती है—बगड़-पड़ौसन, धी-ध्याने, गहने-पत्ते, कोस-कटाई, तिथि-पर्वा, हाट-हवेली, चना-चबैना, लहना-सहना ऐसे अनेक प्रयोग हैं। ये सब शब्द मैं अपनी बोली-कौरवी-से दे रहा हूँ, प्रत्येक क्षेत्र के लेखकों के पास अपनी-अपनी बोलियों का ऐसा अकूत खजाना होगा।

शब्दों की अर्थ-ध्वनियों, शेड्स, को पहचानकर जनभाषा में कितने सक्षम शब्द हैं, उनके कितने-कितने सूक्ष्म अन्तर और अर्थ-भेद हैं, देखकर आश्चर्य होता है। हमारा दुर्भाग्य है यह कि नई पीढ़ी इस सबसे अपरिचित होती चली जा रही है—शब्दों के सूक्ष्म अर्थगत अंतर का उन्हें भान ही नहीं हो पाता। सुहाग चिन्ह 'चूड़ी' के सामान्य रूप में टूटने को 'मौलना' कहा जाता था और वैधव्य के समय चूड़ी टूटने को 'टूटना' कहा जाता था—आज की पीढ़ी के पास केवल 'टूटना' रह गया है। कुछ अन्य उदाहरणों से जनभाषा के शब्दों के शेड्स, ध्वनियों, को देखा जा सकता है—सामान्य क्रिया 'खाना' है किन्तु रोटी 'भकोसना' और पानी 'डकोसना' जिस अवमानना भाव को प्रदर्शित करते हैं, उसके लिए परिनिष्ठित भाषा में शब्द नहीं हैं। 'रोटी' को जब 'घेसले' और 'टिक्कड़' से अभिव्यक्ति दी जाती है तो अवमानना स्वतः व्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार 'जल' और 'पानी' का अन्तर वहाँ स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। 'औटाने' की सामान्य-सी क्रिया है, 'उबालना' भी इसी तरह की है किन्तु इस व्यापार की विभिन्न स्थितियों को अभिव्यक्ति देने के लिए 'रझाना', 'खदकना', 'खदका पड़ना', आदि शब्द ऐसी धरोहर हैं जिनको सहेजना अत्यावश्यक है। दर्द और पीड़ा की अभिव्यक्ति की विभिन्न स्थितियों के व्यंजक-शब्द किस प्रकार दर्द, पीड़ा, का ग्रॉफ़ खींचकर बताते हैं—वह दर्शनीय है: आँखों से 'रड़क' है, शरीर 'चस-चस' कर रहा है, पेट की 'मरोड़' को 'दर्द' या 'स्टमक-ऐक' कहने में सक्षम नहीं हैं। हम किसी चीज़, पशु या व्यक्ति से 'डरते'—भर हैं—'बिदकने' का भाव हमें पता नहीं है। 'तंतैयों', 'शहद की

मक्खियों' द्वारा 'काट खाया जाना' ही हम सुनते हैं 'भंभोड़ खाना' गायब हो चुका है। कुत्ता भी 'भंभोड़ता' था—किन्तु हम केवल 'काट खाने' को ही जानते हैं। पशु और स्त्री दोनों की 'गर्भावस्था' के लिए हमारे पास एक ही शब्द रह गया है किन्तु जनभाषा में पशु के लिए 'ग्याभन' (ग्याभिन) और स्त्री के लिए 'गर्भवती' है। कभी इसको कहने में भी लाज आती थी तो उसको कहने के इंगित शब्द और मुहावरे थे—'पैर भारी' है, 'उसके आने का मौका ना है' आदि। गोपन-भाव और अशुभ-भाव से बचते हुए लोक ने कितने ही शब्दों का सृजन किया है, स्वतःस्फूर्त रूप में : यदि हम यह भी ध्यान दें, कि स्वाद की अभिव्यक्ति के लिए कैसे-कैसे शब्द जनभाषाओं में हैं तो यह एक रोचक अध्ययन होगा—चीज कुछ खट्टी, कुछ मीठी हो तो उसे एक शब्द में कैसे कहा जाए—'खटमंदरा', जैसा सार्थक शब्द वहाँ है। पशु का बच्चा वहाँ 'लवाड़ा' है, मनुष्य का बच्चा 'बालक'। एक ही अन्न से उत्पन्न फसल है किन्तु पशुओं के लिए 'चरी' और मनुष्यों के खाने के लिए ज्वार। कुछ-कुछ पके हुए फल के लिए परिनिष्ठित भाषा में शब्द नहीं हैं किन्तु जनभाषा में 'गद्दर' है। 'यंसिल्स' के लिए शहरी भाषा में कोई शब्द मातृभाषा का प्रयुक्त नहीं कर पा रहा है किन्तु प्रायः 40 वर्ष पूर्व 'गद्द'—'गद्द पकना' का प्रयोग सामान्य था। 'छनछनाना', 'बमनैटी', 'हहार' (ये सभी शब्द संजीव की एक ही कहानी से हैं) आज क्यों अपरिचित हो गए हैं? अपनी भाषा की इन शक्तियों को पहचानने, उसकी ओर पुनः मुड़ने और अपनी लेखन भाषा में इस सबका अधिकाधिक प्रयोग करने का संकल्प, वर्तमान की महती आवश्यकता बनती है। विभिन्न क्रिया-व्यापारों के लिए लोकभाषा में अलग-अलग शब्द हैं। जहाँ अंग्रेजी में मुँह को पानी से केवल धोया (वाश) जाता है या पानी छिड़कने के लिए केवल 'स्प्रिंकल' है, वहाँ हिन्दी बोलियों में 'छपके मारना', 'छींटे मारना' द्वारा अलग-अलग क्रियाएँ सूचित होती हैं। इसी प्रकार पानी 'पीने' और 'डकोसने' का अन्तर भी द्रष्टव्य है। लोक का भण्डार ऐसे शब्दों से भरा पड़ा है।

## दमण का आँखोंदेखा स्वाधीनता संग्राम

मदनमोहन तरुण\*

भारत का केन्द्रशासित प्रदेश दमण मुम्बई से 160 किलोमीटर की दूरी पर अरब महासागर के तट पर अवस्थित है। यहीं दमण गंगा नदी अपनी यात्रा समाप्त कर सागर से मिलती है। इस प्रदेश को गोवा की स्वाधीनता के पश्चात् सन् 1961 में पोर्तगीज शासन से मुक्ति मिली।

दमण चार सौ वर्षों से भी अधिक पुर्तगालियों के अधीन रहा। मौयर्काल से दमण विभिन्न क्षेत्रीय शासकों के अधीन रहा तथा 13वीं शताब्दी में यह गुजरात के सुलतानों द्वारा शासित रामनगर राज्य का एक भाग बन गया। बाद में सन् 1531 में दमण पर पुर्तगालियों ने कब्जा किया तथा 1539 में गुजरात के सुलतान बहादुर शाह ने इसका विधिवत अधिग्रहण किया। तब से 18 दिसम्बर, 1961 तक यह पोर्तगीज शासन के अधीन रहा। 19 दिसम्बर, 1961 तक यह पोर्तगीज शासन के अधीन रहा। 19 दिसम्बर 1961 को भारत ने अपनी सैनिक कार्रवाई के द्वारा उसे पुर्तगालियों के कब्जे से मुक्त कराया।

दमण की स्वाधीनता में भारतीय सेना की सफल एवं ऐतिहासिक कार्रवाई के साथ ही उसका एक और महत्वपूर्ण पहलू है, वहाँ के स्वतन्त्रता सेनानियों की भूमिका। इन सेनानियों ने वहाँ की जनता के भीतर स्वतन्त्रता के भाव भरे और अपनी पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष के लिए तैयार किया। अपने दस वर्षों के आवास काल में मुझे यहाँ ऐसे कई स्वाधीनता सेनानियों से मिलने का अवसर मिला जो यहाँ के अपेक्षया अल्पख्यात स्वाधीनता संग्राम के ध्वजधारी थे।

इन सेनानियों में भीखूभाई दाह्याभाई पांड्या की भूमिका महत्वपूर्ण है। इन पंक्तियों के लेखक की उनसे 1969 में मुलाकात हुई थी। तब वे 68 वर्ष के थे। लम्बे कद के भीखू भाई का मेरुदण्ड सीधा था, आँखों में चमक थी और चेहरे पर दृढ़ता। खादी धोती, कुर्ता, सिर पर गाँधी टोपी और पाँवों में चप्पलधारी इस व्यक्तित्व का सामनेवाले पर अलग प्रभाव पड़ता था। दमण के लोगों के बीच उनका सम्मान था और स्वाधीनता के पश्चात् भी वे जीवित रहे दमण के सामाजिक जीवन में पूरी तरह सक्रिय रहे।

\* डॉ. मदनमोहन तरुण, पूर्व संकायाध्यक्ष-भाषा, लाल बहादुर शास्त्री प्रशासनिक अकादमी, मसूरी।

उनमें स्वतंत्रता सेनानी का उत्साह अब भी बना हुआ था। वे दमन के स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व कर चुके थे। उन्होंने मुझे दमण की आजादी और उसके आसपास की सम्बन्धित गतिविधियों की आँखों देखी गाथा सुनाई। अपने बारे में बताते हुए उन्होंने कहा कि दस से बारह वर्ष तक उनकी शिक्षा बम्बई में हुई। वहीं वे महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आए। बारदोली सत्याग्रह और नमक आन्दोलनों का लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। दमण में राजनीति का प्रवेश वापी के रास्ते से हुआ। वापी ब्रिटिश शासन के अधीन था और दमण पोर्तगीजों के। सन् 1930 में गाँधी जी ने वापी के लोगों का सम्बोधन किया, जिसमें 1500 लोगों ने भाग लिया। उस भाषण को सुनने के लिए दमण के लोग भी गए। प्रशासन ने उन्हें नहीं रोका। गाँधी जी के भाषण का लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। लोग गाँधी टोपी पहनने लगे। कुछ लोग दीवारों पर चुपचाप 'हिन्दुस्तान हमारा है' 'पोर्तगीज चले जाओ' लिख आते थे। इन गतिविधियों से सरकार सावधान हुई और लोगों पर ध्यान रखने लगी।

सन् 1947 में भारत आजाद हुआ। 15 अगस्त की रात में वापी में उत्सव मनाया गया। इस समारोह में दमण की जनता ने भी सोत्साह भाग लिया। भारतीयों के साथ कौतूहलवश कुछ पोर्तगीज भी उसे देखने गए थे। इस उत्सव को देखकर दमण की जनता के मन में यह धारणा प्रगाढ़ हो गई कि अब दमण को भी स्वतन्त्र होना पड़ेगा। 26 जनवरी, 1950 को वापी में गणतन्त्र दिवस मनाया गया। दमण की जनता ने उसमें भी भाग लिया। अब दमण की दीवारों पर नारे लिखने का क्रम तेज हो गया। भारत के समाचारपत्रों में गोवा, दमण और दीव की आजादी की चर्चा चलने लगी। इससे पोर्तगीज और भारत सरकार के बीच सम्बन्ध बिगड़ने लगे। सन् 1954 में भारत सरकार ने वापी और दमण के बीच बसों का आना-जाना बन्द कर दिया। दोनों ओर की गाड़ियाँ केवल दाभेल तक आती-जाती थीं। बीच का रास्ता लोगों को पैदल ही तय करना पड़ता था।

22 जुलाई को दादर में संघर्ष हुआ। वहाँ आजाद गोमान्तक और गोवा के लोग मिलकर लड़े। इस संघर्ष में लोगों ने वहाँ के सबसे बड़े अधिकारी को मार डाला तथा डुंगरा गाँव और दादरा पर अधिकार किया। दमण में उनका परिवार लम्बे समय तक रहा। उनकी माँ लम्बे समय तक जीवित रहीं। नगरहवेली मुक्त रहा। नगर हवेली में 71 गाँव थे।

2 अगस्त, 1954 को गोमान्तक के लोगों ने नगर हवेली में तीन दिनों तक संघर्ष किया और उसे अपने कब्जे में ले लिया। ये समाचार दमण के लोगों तक पहुँच रहे थे। वहाँ कांग्रेसी अब तक गुप्त रूप से कार्यरत हो चुके थे। भीखू भाई डाह्याभाई पांड्या उसके नेता थे।

स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाले दमण के अन्य लोगों में नरहरिभाई करुणाशंकर पाठक, जिन्हें लोग मंगूभाई के नाम से जानते थे, बाबूभाई लक्ष्मणभाई राणा तथा

मणिलाल नानूभाई पाठक का नाम उल्लेखनीय है। ये तीनों व्यक्ति जनता के बीच गुप्त रूप से नायकत्व का कार्य करते थे। इनके साथ-साथ अन्य कई लोगों ने आन्दोलन की सक्रियता बनाए रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनमें से कई प्रचार-कार्य करते हुए पकड़े गए और उनको सजा हुई। अब्बासभाई दाऊदभाई ब्होरा पोस्टर लगाते हुए पकड़े गए। उन्हें तीन साल की सजा हुई और गोवा भेज दिया गया। बाबूभाई दलपतभाई कामडी जगनभाई पटेल (तम्बाखूवाला), केशवभाई पटेल, पोस्टमैन (भेसलोर) को कड़ी सजा दी गई। उन्हें पीटा गया और तीन साल की सजा हुई।

सन् 1954 से करीब 1957 तक वापी और दमण के बीच का मार्ग बन्द रहा। सम्पर्क के लिए पत्र ही एकमात्र साधन रह गया था। पत्रों की भी जाँच होती थी। दमणवासियों के लिए हवाई जहाज के द्वारा गोवा से दैनिक जीवन का सामान लाया जाता था। हवाई जहाज सप्ताह में तीन बार आता था। सोमवार, मंगलवार और शनिवार को। इस हवाई जहाज से केवल बड़े अधिकारी ही यात्रा करते थे। बाद में दमण की जनता को खुश रखने के लिए पोर्तगीज सरकार ने कई अन्य व्यवस्थाएँ की थीं। इटली से आलू अफ्रीका आता था और वहाँ से दरिया के रास्ते दमण-दीव तक पहुँचाया जाता था। आवागमन के लिए स्टीमर का व्यवहार होता था। इसमें केवल नौसेना और सरकार के लोग आते-जाते थे। आम आदमी नहीं। गोवा, दमण, दीव के बीच सम्पर्क के लिए वायरलेस स्टेशन था।

30 जनवरी, 1948 को गाँधी जी का देहावसान हुआ। दिल्ली में उनके दाह-संस्कार के पश्चात् उनकी चिता की राख दमण में भी लाई गई। दमण के लोग एक जुलूस के रूप में समुद्रतट की ओर गए। यहाँ उनका आस्थि-विसर्जन हुआ। उसके बाद लोग किले के अन्दर मैदान में जमा हुए। इस सभा का सभापतित्व डॉ. कास्टलिन फर्नांडिस ने किया। यह सभा गाँधी जी की तेरही के दिन हुई। गाँधी की अस्थि माणिभाई नानू भाई पाठक ढोकर समुद्रतट तक लेकर गए थे। उन्होंने ही उसका विसर्जन भी किया था। विसर्जन शाम को चार बजे किया गया था। सभा में प्रस्तावित किया गया कि गाँव में कुछ किया जाना चाहिए। गाँव में छोटी-छोटी पाठशालाएँ थीं। गुजराती के अध्यापन में पोर्तगीजों की रुचि नहीं थी। अतः गाँव में एक शिक्षण-संस्थान की स्थापना के लिए चन्दा इकट्ठा किया गया। सेठ केसरीचन्द ने उसके लिए ज़मीन दी। पहले स्कूल जून 1948 में एक किराए के मकान में शुरू हुआ। पहले इसका नाम 'महात्मा गाँधी स्मारक ग्यान प्रचारक मण्डल' रखा गया। सातवीं कक्षा तक इसमें गुजराती का अध्यापन आरम्भ हुआ। इसके प्रथम हैडमास्टर थे नारायण जी देसाई। वे उमरवाड़ी। (पारडी के पास का एक गाँव) के निवासी थे। उस समय स्कूल में करीब आठ शिक्षक थे। मण्डल नाम से यह स्कूल दो-तीन वर्षों तक चलता रहा। जनता ने जब स्कूल के लिए सरकार से अनुदान लेना चाहा तो सरकार ने स्कूल के साथ जुड़े गाँधी जी के नाम पर आपत्ति की। अनुदान लेने के लिए इसका नाम बदलकर 'सार्वजनिक विद्यालय' कर दिया गया।

आज भी दमण में यह स्कूल इसी नाम से चल रहा है।

जनता ने इस स्कूल के निर्माण में खूब रुचि ली। सरकार ने इसके लिए सिलवास के जंगलों से लकड़ी मँगवाकर दी। इस कार्य के लिए स्कूल के एक शिक्षक श्री रामलक्ष्मण दवाड़े ने बहुत उत्साह दिखाया। वे एक महीने तक सिलवास जंगल में रहे। रात्रि और भोजनादि की समस्याओं की कोई चिन्ता नहीं की। स्वयं भोजन बनाकर खाते रहे, परन्तु यह सुनिश्चित किया कि स्कूल को अच्छी-से-अच्छी लकड़ी मिले। जनता ने भी इसके लिए उदारता से पैसे दिए। दमण में लड़के-लड़कियों के बीच शिक्षा के प्रसार में इस विद्यालय का महत्वपूर्ण स्थान है।

दमण की जनता शान्तिप्रिय थी। उसमें सरकार विरोधी भावना नहीं थी। श्री पांड्या इससे दुखी रहते थे। वे हर प्रकार से प्रयास करते कि दमण की जनता में राष्ट्रीय भाव प्रबलतापूर्वक जाग्रत हों।

### **स्वाधीनता आन्दोलन का समाजवादी पहलू**

स्वाधीनता आन्दोलन राजनैतिक और सामाजिक जागृति के समन्वय के साथ चला। उन दिनों की याद करते हुए भीखू भाई पांड्या ने कहा कि महात्मा गाँधी के साथ-साथ वे बम्बई में रहते हुए कई अन्य महत्वपूर्ण नेताओं के सम्पर्क में आए, जिनमें डॉ. राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण तथा अच्युत पटवर्धन का महत्वपूर्ण स्थान है। वे आसफअली की कार्य प्रणाली से भी बहुत प्रभावित हुए।

सन् 1929-30 में बम्बई से 'काँग्रेस बुलेटिन' प्रकाशित हुआ। उसके सम्पादक को कुछ ही साल बाद ढाई साल जेल की सजा हो गई। परन्तु, इस समय तक लोगों में स्वाधीनता की चेतना इतनी प्रबल हो चुकी थी कि लोग झुकने को तैयार नहीं थे। 'काँग्रेस बुलेटिन' का प्रकाशन होता रहा। लोग जेल आते-जाते रहे। इन्हीं दिनों 'बार काउन्सिल' की स्थापना हुई। 'काँग्रेस बुलेटिन' भूमिगत होकर प्रकाशित होता रहा। कई काँग्रेसी विभिन्न मौसमी फल बेचनेवाले या अन्य छोटी-मोटी चीजों के व्यवसायी का कार्य करते हुए छद्म रूप में इस पत्रिका को लोगों तक पहुँचा रहे थे। सन् 1932 तक बम्बई का आन्दोलन कभी तेज होता तो कभी धीमा। सन् 1942 में गाँधी जी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का समारम्भ किया। इन्हीं दिनों सोशलिस्ट पार्टी काँग्रेस से अलग हो गई।

दमण में राजनीति वापी के रास्ते से आई। यहाँ समय-समय पर गाँधी जी, मोरारजी भाई देसाई, सरदार बल्लभभाई पटेल आदि नेता आते रहते थे। सूरत जिले के हरिपुर में काँग्रेस का तिरिपनवाँ अधिवेशन हुआ था। उसका सभापतित्व सुभाष बाबू के परिवार के एक सदस्य ने किया था। इस काँग्रेस में भाग लेने दमण के लोग भी गए थे। इससे उनमें नया जोश आने लगा और वे आजादी के लिए संघर्ष का महत्व समझने लगे। अब उन्हें ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता थी जो उन्हें सही मार्ग-दर्शन करा सके।

आर्थिक मोर्चे पर भी उन्हें कई कठिनाइयाँ थीं। दमण की जनता को जागीरदारों से बहुत परेशानी थी। कहीं-कहीं उनकी आधी ज़मीन पोर्तगीज-शासन के अन्तर्गत आती थी तो आधी ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत। दोनों की मालगुजारी के नियम अलग-अलग थे।

एक ज़मीन के कई मालिक होने के कारण किसानों को उसका अधिक किराया देना पड़ रहा था। उन्होंने किसानों को सलाह दी कि वे खुल कर सरकार का विरोध करने के बजाय विवाह, मृत्यु आदि सामाजिक, पारिवारिक अवसरों पर इन विषयों की आपस में चर्चा करें। इससे किसानों में धीरे-धीरे राजनीतिक चेतना का उदय होने लगा और वे अपनी स्थिति, पहले से कहीं बेहतर ढंग से समझने लगे। पोर्तगीज सरकार अब भीखू भाई की गतिविधियों के प्रति कड़ी नजर रखने लगी थी। किसानों का अपने आर्थिक शोषण के प्रति जाग्रत होना, जागीरदारों और सरकार, दोनों के लिए हितकर नहीं था।

### लीला अलवारिस

इन्हीं दिनों एक घटना घटी।

बम्बई में लीला अलवारिस नाम की महिला क्रान्तिकारियों में सम्मिलित थी। वह सोशलिस्ट विचारधार में आस्था रखने वाली थी तथा वह 'सैबोटाइज मूवमेन्ट' से भी जुड़ी थी। ब्रिटिश सरकार की उस पर कड़ी नजर थी। उस समय श्री पुरुषोत्तम बम्बई के मजिस्ट्रेट थे। वे स्वयं भी समाजवादी विचारधारा के थे। लीला अलवारिस की गिरफ्तारी उन्हीं के यहाँ से हुई थी, परन्तु वह पुलिस की गिरफ्त से निकल भागी और दमण पहुँच गई। दमण के लोगों ने उसे भीखूभाई पांड्या का पता दिया। इसके बावजूद कि भीखूभाई पर उन दिनों सरकार की कड़ी नजर थी, वे उनके पास चार महीनों तक रहीं। लीला अलवारिस कोई साधारण महिला नहीं थीं। वे तो कहीं एक बहुत मुश्किल काम को अंजाम देना चाहती थीं।

उन दिनों जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन तथा अशोक मेहता वरली जेल में बन्द थे। उस जेल की इलेक्ट्रीक फेंसिंग थी। वहाँ से उन लोगों के छुड़ाने की व्यवस्था करनी थी। भीखूभाई को लोग जानते थे, साथ ही बम्बई की गुप्तचर सेवा को यह मालूम था कि लीला उन्हीं के यहाँ हैं। लीला अलवारिस ने उन क्रान्तिकारियों को मुक्त कराने का एक नायाब तरीका अपनाया। भीखू भाई का कहना है कि वे वह रहस्य कभी समझ नहीं पाए। लीला भाई ने कहा कि भीखूभाई और स्वयं उनके जाने से कोई काम नहीं बनेगा। उन्हें एक ऐसे आदमी की जरूरत थी जो छद्म रूप से उनका (लीला) सन्देश लेकर बम्बई जा सके। भीखू भाई ने इस कार्य के लिए बम्बई से अपने मामा के लड़के को बुलाया। वह खादी पहनता था। उन्होंने उसे अंग्रेजी कपड़ा पहनाया। लीला ने उसे बताया कि बम्बई में अली ब्रदर्स की बिल्डिंग की तीसरी मंजिल पर उसे एक आदमी खड़ा मिलेगा। तब जाकर उसे वह दो नम्बर बताए। लड़के ने इस आदेश का अक्षरशः



पालन किया। उस सन्देश के वहाँ पहुँचने के चार दिनों बाद ही तीनों क्रान्तिकारियों को मुक्त करा लिया गया। इसके बाद लीला अलवारिस ने बम्बई जाने की इच्छा व्यक्त की। भीखू भाई ने उसे बुरका पहनाकर एक मुस्लिम के साथ बम्बई भेज दिया। दाभेल चेकपोस्ट पर औरतों की भी जाँच होती थी, परन्तु लीला वहाँ से बच निकली। उनके जाने के छह-सात दिन बाद एक आदमी दमण बाजार में भीखू भाई से मिला। उसने धीरे से उनके कान में बताया कि उसके जूते में उनके लिए एक चिट्ठी है जो वह उन्हें सौंपना चाहता है। भीखू भाई उसे अपने घर ले आए। वह लीला की चिट्ठी थी जिसमें उसने अपने कपड़े मँगवाए थे। समस्या यह थी कि वे कपड़े औरत के थे और उसे ले जानेवाला पुरुष था। उस आदमी ने भीखू भाई को चिन्तित देखकर कहा कि वे निश्चिन्त रहें। वह बलसाड के खादी भण्डार में काम करता है तथा वहाँ से बम्बई तक क्रान्तिकारियों की असरदार चैन है। वह उस चैन का एक अंग है। उसमें स्त्री-पुरुष सब हैं, अतः वहाँ तक सामान पहुँचाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। भीखू भाई ने वे कपड़े उसे दे दिए जो लीला तक पहुँच गए।

सन् 1949 में भीखूभाई पांड्या राममनोहर लोहिया से मिलने बम्बई सोशलिस्ट पार्टी के कार्यालय में गए। वहाँ लीला अलवारिस से उनकी पुनः मुलाकात हुई। उसने बताया कि उसके पति भी क्रान्तिकारी थे। वे बर्मा सेल में काम करते थे। उन दोनों को पुलिस सर्जेंट ने पकड़ लिया था। उसी सर्जेंट ने लीला को पहले भी पकड़ा था। परन्तु, लीला इस बार भी उससे छूटकर निकल भागने में समर्थ हुई। प्रशासन से आँखमिचौली, क्रान्तिकारियों के जीवन का हिस्सा था।

सन् 1951 जुलाई में डॉ. लोहिया ने गोवा में 'जयहिन्द' आन्दोलन चलाया था। यहाँ उन्हें डॉ. टी.वी चुआन ने बुलाया था। वे जर्मन भाषा के विद्वान थे तथा 'फादर ऑफ गोवा' के नाम से जाने जाते थे। डॉ. लोहिया ने गोवा में सार्वजनिक सभा कर उसमें भाषण दिया था। उस सभा में उनके साथ-साथ चुआन तथा लवंदे को भी पकड़ा गया था। डॉक्टर लोहिया को पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने छुड़वाया था। गाँधी जी उन दिनों पूना में थे। गोवा के बारे में उन्होंने कहा था कि वहाँ सत्याग्रह की आवश्यकता नहीं है। परन्तु गोवा में उस समय से जो आन्दोलन शुरू हुआ, वह किसी-न-किसी रूप में चलता ही रहा।

अगली बार की मुलाकात में डॉ लोहिया ने भीखूभाई पांड्या को डॉ. मसकरेन तथा डीमेलो हसरेकर से मिलवाया। यहाँ उन्हें दमण में वितरण के लिए सोशलिस्ट लिटरेचर दिया गया। इसमें धर्म के कई अवयवों की आलोचना की गई थी, जिसे दमण की धर्मभीरु जनता अपने गले नहीं उतार सकी।

कुछ जागीरदार भी स्वाधीनता में विश्वास रखते थे, परन्तु इस कार्य से जागीरदारी खोने का खतरा था। वे कोई खतरा उठाने को तैयार नहीं थे। कुल मिलाकर दमण के उच्चवर्ग पर इसका अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। इस स्थिति में भीखूभाई ने किसानों को

संगठित करना अधिक उचित समझा। सरकार ने अरान्दमेन्त नाम से कृषि सम्बन्धी एक नियम बनाया था जिसके अन्तर्गत किसान को एक एग्रीमेन्ट पर हस्ताक्षर करना पड़ता था कि यह खेत तीन साल तक हमारे कब्जे में रहेगा। यह उनकी पुस्तैनी ज़मीन थी। इस कानून का तात्पर्य था तीन साल के बाद अपनी ही ज़मीन को सदा के लिए जागीरदार के हवाले कर देना। भीखूभाई ने उन्हें सलाह दी कि वे उस पर हस्ताक्षर न करें। दमण की जनता ने उसे मान लिया। अब पुलिस किसानों को हस्ताक्षर करने के लिए जब पुलिस स्टेशन बुलाती तो वहाँ जाते जरूर, परन्तु किसी कागज़ पर हस्ताक्षर करने से मना कर देते। यह कोई साधारण बात नहीं थी। किसानों के भीतर पनपते इस विद्रोह-भाव को सरकार ने समझ लिया। उन्होंने पाया कि जनता का पक्ष प्रबल है। अगर उन पर अधिक जोर डाला गया तो वे विद्रोह कर सकते हैं। यहाँ भी सत्याग्रह आन्दोलन हो सकता है। अतः अब सरकार ने किसानों पर जोर देना बन्द कर दिया। यह सरकार की हार थी और किसानों की जीत। इस विजय से किसानों में नया आत्मविश्वास जगा और वे क्रान्ति के कार्यक्रमों में भाग लेने लगे। परन्तु, भीखू भाई इतने भर से ही प्रसन्न नहीं थे। वे स्वाधीनता आन्दोलन में जो तेजी देखना चाहते थे, वह हो नहीं पा रही थी।

भीखू भाई को लगा कि वे यह कार्य वापी से अधिक आसानी से कर सकते हैं। इसके कुछ और भी कारण थे। (1) दमण की पुलिस उनकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रख रही थी। उनके मित्र डॉ. लट्टु ने उन्हें बताया था कि वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते हैं। (2) गिरफ्तार होने पर उनका आन्दोलन रुक जाता। यह बहुत बड़ी हानि होती। (3) उनका लड़का मैट्रिक में पढ़ रहा था। उसे यहाँ से आने-जाने में कठिनाई-हो रही थी। यह सब सोच-समझकर वे वापी में ही रहने लगे।

### गोमान्तक दल का अभियान

वापी में वे गोमान्तक दल के अध्यक्ष श्री यू. एन. लवंडे तथा अन्य लोगों के सम्पर्क में आए जो दादरा और नगर हवेली को मुक्त कराने की दिशा में काम कर रहे थे। भीखूभाई पांड्या उस आन्दोलन में शामिल हो गए। भीखूभाई ने बताया। “1954 जुलाई को मिस्टर फ्रैन्सिस मस्करीन के नेतृत्व में दादर को मुक्त करा लिया गया। वहाँ से हमने ढेर सारे अस्त्र-शस्त्र जमा कर लिए। फिर हमारे गोमान्तक दल ने 23 जुलाई को नरोली (नगर हवेली का एक भाग) को मुक्त कराया। इस प्रकार छोटी-छोटी विजय को अंजाम देते हुए 2 अगस्त को हमारे दल ने नगर हवेली को अपने कब्जे में ले लिया। मिस्टर लवंडे को इसका पहला प्रशस्तिपत्र नियुक्त किया गया। भीखू भाई का वापी का मकान क्रान्तिकारियों के गोपन निवास का महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया। एस. पी. प्रभाकर सिनारी मेरे यहाँ करीब दो महीने तक रहे। सिनारी गोवा पुलिस से छूटकर आए थे।”

“नाना कदरेकर सिलवास के पुलिस अफसर थे। वे सशस्त्र क्रान्तिकारियों की सहायता करते थे। उनके साथ आर. वकेनकर भी थे जो आर.एस.एस. से सम्बद्ध थे।

हम लोग उनसे भी सहायता लेते थे क्योंकि हमारी संख्या कम थी। वे हम लोगों के लिए बम बनाते थे।”

“क्रान्तिकारियों के अन्य सहयोगियों में माधव मुकुन्द पूना के रहनेवाले थे। वे लवंदे जी के निकट सहयोगियों में से थे। शत्रुओं के कार्यकलापों की टोह लेने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। ये भीखूभाई से मिलने दमण आए, परन्तु जब उन्हें पता चला कि वे वापी में हैं तो वे उनसे वहीं मिलने गए। वे जानना चाहते थे कि—

नरोली का पुलिस स्टेशन कहाँ है ?

यह बोर्डर से कितनी दूरी पर है ?

ट्रेजरी कहाँ है ?

पहरेदारों के पास कितनी संगीनें हैं ?

वे कहाँ रहते हैं ?

उनके पास किस प्रकार की बन्दूकें हैं ?

उनकी शूट करने की रेंज क्या है ?

पुलिस स्टेशन की स्थिति कैसी है ?

आक्रमण और बचाव के लिए वहाँ क्या-क्या ध्यान में रखना होगा ?”

इन बातों का पता लगाने के लिए वे बर्तन पर पालिश लगानेवाले के रूप में सिलवासा गए। यहाँ उन्होंने पुलिस की गतिविधियों का गहराई से अध्ययन किया। इस काम में उन्होंने नरवणे नामक एक सज्जन की सहायता ली। वहाँ के पुलिस प्रधान को तिन्तेन कहा जाता था। यह कैप्टन से नीचे का पद था। यहाँ का पुलिस अधिकारी फालकाउ औरत-पसन्द था। यही उसकी कमजोरी थी। माधव मुकुन्द ने उसकी इसी कमजोरी का फायदा उठाया। वे पुलिस अफसर से मिले। वहाँ जाकर उन्होंने अपना परिचय फिल्म प्रोड्यूसर के रूप में दिया और उनसे फिल्म की शूटिंग की अनुमति माँगी। उन्होंने उनसे वहाँ के आदिवासी नृत्य की व्यवस्था कराने का अनुरोध किया। साथ ही यह भी बताया कुछ सुन्दर स्त्रियाँ बम्बई से भी आएँगी। सारी बात उन्हें इस प्रकार कही गई कि उनको लगे कि उन्हें उन औरतों का लाभ मिल सकता है। पुलिस अधिकारी ने अनुमति दे दी। बातें करते-करते रात हो चुकी थी। नरवणे ने पूछा कि क्या इस समय यहाँ से बम्बई जाने के लिए कोई बस मिलेगी ? पुलिस अधिकारी ने उन्हें उस रात वहीं रुकने को कहा। वे तो चाहते ही यही थे। वे रात में वहीं पुलिस स्टेशन में ही रुके तथा सोने का नाटक करते हुए उन्होंने पूरी स्थिति का अध्ययन किया। उसके बाद वापस आकर उन्होंने मिस्टर लवंदे और भीखूभाई को पूरी सूचना दी। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर नरोली की मुक्ति कराई गई। इस कार्य में क्रान्तिकारियों को वहाँ से राजपूत गोमन्त सिंह से काफी मदद मिली।

14 अगस्त, 1954 को सिलवासा में स्वतन्त्रता-दिवस मनाया गया। इसके पीछे भारत की आजादी की भावना थी। श्री लवंदे जी को 2 अगस्त को ही सिलवासा का

प्रशासक बना दिया गया था। स्वतंत्रता-दिवस के अवसर पर क्रान्तिकारियों ने यह निर्णय लिया कि कोई भी क्रान्तिकारी जो प्रशासन में भाग लेगा, वह सौ रुपये से अधिक नहीं लेगा। क्रान्तिकारी, सिलवासा की स्वतंत्रता को गोवा, दमण, दीव की आजादी का प्रथम चरण मानते थे।

अप्पा कलमलकर गोवा के एक बैंक के कर्मचारी थे। उन दिनों विजयालक्ष्मी पण्डित के दामाद अशोक मेहता, गोवा में भारत के प्रतिनिधि थे। करमालकर जी की अशोक मेहता से अच्छी जान-पहचान थी। गोवा के मन्दिरों में घूमते हुए विजयालक्ष्मी पण्डित से उनकी मुलाकात हुई। वे उनसे उनके आवास पर भी मिले। पुर्तगीज उनकी इस हरकत से नाराज हो गए और उनकी बदली पुर्तगीज अफ्रीका में कर दी। अफ्रीका जाने के लिए उन्हें हर बार बम्बई आना पड़ता था, इसलिए वे बम्बई में ही बस गए। वहाँ के प्रयास से उन्हें यूनाइटेड कामर्शियल बैंक में नौकरी मिल गई। क्रान्ति के कार्यों का वे यहीं से संचालन करते रहे। बाद में वे लवंदे जी से मिल कर गोमान्तक दल से सम्बद्ध हो गए। दिल्ली में करमालकर जी का अधिक प्रभाव था। भारत सरकार ने इन्हें अपने में मिला लिया। इसी प्रभाव से उन्हें लवंदे जी की जगह सिलवासा का एडमिनिस्ट्रेटर बना दिया गया। इस प्रकार प्रशासन क्रान्तिकारियों के हाथ से निकल गया। अतः लवंदे भीखू भाई पांड्या आदि उनसे दूर हो गए और उन्होंने वापी, कुन्ता (नानी दमण) तथा बड़ी दमण के पलसेट गाँव गोमान्तक का कैम्प रखा। इन कैम्पों में स्वतंत्रता आन्दोलन तेज करने के कई निर्णय लिए गए, जिनमें रेल-तार कटना, पैम्फलेट छपवाना और बँटवाना प्रमुख था। बम्बई से आजाद गोमान्तक द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'क्रान्ति' गुजराती और मराठी भाषाओं में इनके पास आती थी। इनका छुपकर दमण में वितरण किया जाता था।

### जान्दोलन में तीव्रता

दमण के अब्बास भाई दाऊद भाई बोहरा ने एक पैम्फलेट दमण पुलिस स्टेशन के बाहर लगा दिया। पकड़े गए। उन्हें डेढ़ साल की सजा हुई। अब्बास भाई के पिता दाऊद भाई बहुत बूढ़े हो चुके थे, परन्तु उनमें स्वतंत्रता की भावना कूट-कूट कर भरी थी। अब्बास भाई ने पैम्फलेट अपने पिता की प्रेरणा से ही लगाया था। वह पैम्फलेट दाऊद भाई, जगन्नाथ त्रिपाठी और दलपत भाई कामली झाड़ियों में छुप-छुपकर तथा पुलिस की निगाहों से बचते हुए, धुनेठा की पहाड़ियों के पास गुप्त वास करते हुए भीखूभाई से ले गए थे। वे बहुत उत्साहित थे। भीखूभाई ने उन्हें सलाह दी कि यह आन्दोलन का समय नहीं है। अगर काम करने वाले लोग जेल गए तो आन्दोलन को हानि पहुँचेगी। तय हुआ कि पैम्फलेट मोटी दमण के सिने दमाओ, मार्केट फोर्ट में रात में छुपकर लगाए जाएँ, ताकि सबेरे अधिक-से-अधिक लोगों की निगाह जा सके। पैम्फलेट में स्त्री-पुरुष के एक जोड़े का चित्र था, जिन्हें ज्योति लेकर जाते हुए दिखाया गया था और

उसके ऊपर 'आजाद गोवा' लिखा हुआ था। दूसरे में हाथ में टूटती हथकड़ी का चित्र था और उसके ऊपर भी लिखा था 'आजाद गोवा'। गोवा में लोहियाजी ने 'आजाद हिन्द' का जो नारा दिया था वही क्रान्तिकारियों का मूल मन्त्र बना हुआ था। पुर्तगीजों के लिए यह उनके विरुद्ध सत्याग्रह का प्रतीक था।

पुलिस ने अब्बास भाई को पीट-पीट कर क्रान्तिकारियों के बारे में जानकारी लेनी चाही, परन्तु वे टूटे नहीं। क्रान्तिकारियों को जगन्नाथ तिवारी का भी सहयोग मिलता था। उस समय उनकी उम्र 28 साल की थी। वे दुनेठा के जागीरदार केसरीचन्द मोतीचन्द जी के यहाँ जागीरदारी की देखभाल करते थे। वे भी दमण से भागकर वापी आ गए थे। छीबू भाई टोलीफोन का तार काटने के अलावा पैम्फलेट बाँटने का भी काम करते थे। दमण के प्रसिद्ध तस्कर लालू भाई भी क्रान्ति पत्रिका बाँटने में बढ़-चढ़कर हाथ बँटाते थे। इसी अपराध के कारण लल्लू भाई के काका बीका जीवन भाई पटेल (मरबड़वाला) को भी पकड़ा गया था। उन पर गोवा में केस चला, जिसमें वे निर्दोष साबित हुए। वहाँ से छोड़े जाने के दो दिनों के बाद ही उनका निधन हो गया। लल्लू भाई जोगी मरवड़ और देवका के बीच पुलिस स्टेशन के बाहर का तार काटकर वापी भाग गए। उन्हें नगरहवेली में पुलिस की नौकरी मिल गई। यहाँ उन्हें राइफल चलाने की भी ट्रेनिंग दी गई। कुछ दिनों बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी। दमण की पुलिस ने उन्हें यह लालच दी थी कि उन्हें यहाँ नौकरी दी जाएगी, परन्तु वे दमण की सीमा में जैसे ही प्रविष्ट हुए जैसे ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उनके एक हाथ और एक पाँव में बेड़ी लगी हुई थी। वे दमण पुलिस स्टेशन में आठ-दिन इसी रूप में रहे। उन्होंने किसी तरह अपने हाथ की बेड़ी निकाल ली और पाँव की बेड़ी के साथ भाग निकले। उन दिनों वापी के पुलिस इंचार्ज मिस्टर गिज्जर थे। भीखूभाई उन्हें जानते थे। उन्होंने लल्लू भाई पर किसी कार्रवाई-होने के पहले ही उन्हें छोड़ देने का अनुरोध किया। उन्हीं की प्रेरणा से पुलिस ने उन्हें दमण पुलिस के पास नहीं भेजा। लल्लू भाई छूट गए। इसके बाद लल्लू भाई ने क्रान्ति के कार्यों से अपने आपको अलग कर लिया।

लल्लू जोगी, बाबा भाई, गुलाब भाई आदि लोग जीप उड़ाना, पुलिस स्टेशन पर आक्रमण, आग लगाना आदि काम करते थे। दमण के गोदाम में जो आग लगी थी, उसमें दलवाड़ा के बाबू भाई का हाथ था। यहाँ तेल के पीपे रखे थे। इसी में से एक में बम रखा गया था। बाबू भाई को पुलिस ने पकड़ लिया था। उन्हें करीब छह महीने दमण जेल में रखा गया था, परन्तु उनके विरुद्ध अपराध सिद्ध न होने के कारण, उन्हें छोड़ दिया गया। वे सातवीं कक्षा पास थे इसलिए उन्हें नगर हवेली में शिक्षक की नौकरी मिल गई।

दमण की स्वाधीनता के पश्चात् इसी गोदाम में 'गवर्नमेन्ट आर्ट्स एण्ड साईंस कालेज' की स्थापना की गई थी। बाद में दुनेठा की ओर इसका अपना भवन बना। क्रान्तिकारियों में से एक, छीबू भाई की इसमें नियुक्ति हुई थी। पद से तो वे चपरासी थे।

परन्तु कालेज के सभी लोग उनका सम्मान करते थे।

अब तक दमण के स्वाधीनता की भावना तीव्र हो चुकी थी। समय-समय पर वहाँ पेड़ों, कोर्ट, सिनेमा हॉल आदि सार्वजनिक स्थलों पर रात में छुपकर तिरंगा लगाया जाने लगा था, जिससे सरकार को परीशानी हो रही थी तथा क्रान्तिकारी उत्साहित होने लगे थे।

भीखू भाई ने ए ट्यूब बम बनाया। वह पोस्ट ऑफिस के लेटरबाक्स में रख दिया गया। उस बम के विस्फोट से आग लग गई और आग फैल गई। केसरीचन्द ने क्रान्तिकारियों की सूचना पुलिस को दे दी, जिससे एक ही दिन में आजाद गोमान्तक दल के करीब पन्द्रह लोग पकड़ लिए गए। उनके नाम हैं—नसीम भाई लुटिया, फकीर भाई कारिया भाई पटेल, दलपत भाई रड़का भाई कामली, बाबू भाई, दलपत भाई कामली, केसू भाई कामली, रोजी भाई कामली, बाबू भाई कामली, नारायण कामली, भग्गे भाई, छीबू भाई कामली, मोहन भाई हलपति, खण्डू भाई आदि। इनमें से कई नानी दमण खारीवाड, भैंसलोर, रिंगणवाड़ा, भरकुण्ड, दलवाड़ा के थे। ये सभी पाँच से छह महीने तक दमण पुलिस स्टेशन में रखे गए। बाद में गोवा कोर्ट के फैसले के अनुसार इन्हें तीन से चार साल की सजा हुई।

इनमें मोहन भाई और खण्डू भाई सातवीं कक्षा पास थे। गोवा की स्वाधीनता के पश्चात् भीखूभाई की प्रेरणा से इन्हें शिक्षक की नौकरी दी गई। दमण की स्वतंत्रता के पश्चात् कई सत्याग्रहियों को उनकी योग्यता के अनुसार नौकरियाँ दी गईं।

15 अगस्त को पारडी के आसपास के करीब 1000 समाजवादी कार्यकर्ता यहाँ आए थे। पुलिस ने उन पर फायरिंग की जिसमें महाराज नाम का एक आदमी मारा गया। उसी दिन भारत के लोग सत्याग्रह के लिए गोवा गए थे। पण्डित नेहरू ने सोचा था कि यहाँ सत्याग्रह से काम नहीं चलेगा। इसमें काफी खून-खराबा हो सकता है, इसलिए उन्होंने बोर्डर बन्द करवा दिया। यहाँ सत्याग्रह बन्द हो गया। इस सत्याग्रह के समय ईश्वर भाई छोटू भाई देसाई को पकड़कर गोवा जेल भेज दिया गया था। ये सूरत निवासी तथा सोशलिस्ट नेता थे। इन्हें बाद में नेहरू जी ने छुड़वा दिया।

### भारतीय सेना का आक्रमण

1961 तक दमण की सरकार और भी सहज हो गई तथा अस्त्र-शस्त्र जमा करने लगी। गली-गली में टैंक रखे गए। उनकी संख्या दस से बारह थी। वे विमानों को मार गिराने में समर्थ थे। पुलिस के लोगों को रिवाल्वर दिए गए। सरकार ने भैंसलोर तथा सोमनाथ के मार्ग पर ऐसे घर बनाए जिनमें छेद थे, जहाँ से गोली चलाई जा सकती थी। वहीं से मात्र एक पोर्तगीज सिपाही ने करीब पचीस लोगों को मार गिराया था।

दमण की आजादी में गोवा से अधिक समय लगा, क्योंकि यहाँ पोर्तगीजों ने उनका सामना किया। उस समय श्री कृष्ण मेनन भारत के विदेश मंत्री थे।

दमण ऐक्शन से तीन-चार दिन पहले ही यहाँ के लोगों को लगने लगा था कि लड़ाई होने वाली है। दमण में गवर्नर ने जनता को सूचित करते हुए घोषणा की थी कि हमारी मिलिट्री ट्रेनिंग चलने वाली है, अतः दमणवासियों को घबराने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें भागना नहीं चाहिए। लड़ाई से आम जनता को हानि नहीं पहुँचेगी। गवर्नर ने अपना भाषण पोर्तगीज में दिया था, जिसका अनुवाद नरीमन दादा भाई बाडिया ने किया था।

श्री भद्रेश पाठक 17 दिसम्बर, 1961 के भारतीय सेना के हवाई आक्रमण को याद करते हुए कहते हैं—‘मुझे थोड़ी-सी झपकी आ रही थी, तभी जोर-जोर से पटाखों के फूटने की आवाजें आने लगीं। मेरे पिताजी ने बताया कि क्रिश्चियन लोगों का त्यौहार है। वही लोग पटाखे तोड़ रहे होंगे। विस्फोट दाभेल चेकपोस्ट के पास हो रहा था इसलिए दमण में यह आवाज पटाखों की आवाज जैसी ही लग रही थी। दमण के लोगों को सचेत करने के लिए पोर्तगीज सरकार ने भी बम-विस्फोट किया। तब मेरे पिताजी ने कहा कि लड़ाई शुरू हो चुकी है। उन्होंने दरवाजे के छेद से मिलिट्री को जाते देखा। हम अधिक सुरक्षा के लिए दूसरे घर में चले गए। यह सवेरे चार-पाँच बजे की बात है। करीब दस बजे मेरी माँ रसोईघर में खाना बनाने गईं। ग्यारह बजे तक हम लोगों ने भोजन कर लिया। दोपहर बाद आकाश पर तेज आवाज करता प्लेन आया। यह भारतीय सेना का प्लेन था। उसका उद्देश्य दरिया पर बम गिराकर लोगों में दहशत पैदा करना था, परन्तु निशाना चूक जाने से बम बस्ती में गिरा। एक बम मेरे मकान के पास भी गिरा। यह घटना संध्या समय छह बजे के करीब की है। हम रात का खाना खाकर पुनः दूसरे मकान में चले गए। पोर्तगीज मिलिट्री का सड़क पर आना-जाना शुरू हो गया। पुलिस भी नीचे से गोली दागती थी, परन्तु किसी भारतीय विमान का नुकसान नहीं हुआ। जब हम यह दृश्य देखने बाहर निकले तब पुलिस ने हमें घर के भीतर भेज दिया। बाद में हम लोगों ने पोर्तगीज पुलिस को खाना दिया। निरन्तर लड़ाई के कारण उन्हें दिन भर खाना खाने का भी समय नहीं मिला था। वह भूखी थी।

दूसरे दिन 18 तरीख को दोपहर बारह बजे हम घर पर ही थे। इस बीच भारतीय लड़ाकू विमानों का आना-जाना लगा रहा। इस बार उनके बम का लक्ष्य थाना, कस्टम, विभाग और गोदाम था। पुलिस स्टेशन और दमण मार्केट एक-दूसरे के नजदीक हैं। पुलिस स्टेशन पर निशाना चूके जाने के कारण बम मार्केट पर गिर गया। मार्केट तो नष्ट हो गया, परन्तु किसी की जान की क्षति नहीं हुई, क्योंकि बाजार बन्द था।

मोटी दमण में कलक्त्रयेट पहले गवर्नर का स्थान था। वह भी भारतीय बमवारों के निशाने पर था। नानी दमण के कस्टम विभाग पर बम गिरते समय निशाना चूक जाने से वह माछीबाड पर गिर पड़ा जिससे पूरा माछीबाड ध्वस्त हो गया, परन्तु वहाँ भी किसी की जान नहीं गई। सावधानी बरतते हुए लोग वहाँ से पहले ही निकल चुके थे। माछी बाड के घर, शाम छह बजे से दूसरे दिन प्रातःकाल तक जलते रहे।

शाम को कंसार वाड के पास बम गिरा। उसके बाद हम घर छोड़कर परबू फलिया अर्थात ब्राह्मणों की गली में आ गए। हमारे सामने वाले सद्दू भाई ने बताया कि आग बहुत नजदीक आ गई है, तो हम वहाँ से गोलवड चले गए। अन्य लोगों की हालत भी हमी लोगों जैसी हो रही थी। सभी लोग डरकर अपनी जान बचाने के लिए अधिक-से-अधिक सुरक्षित जगह की खोज कर रहे थे। सारी रात हमने तिबला भाई के घर बैठे-बैठे बिता दी। उस दिन लड़ाई दिन भर चलती रही थी। दमण के लोगों को बमवारी का यह पहला अनुभव था। कोई कुछ भी नहीं जानता था कि इसका अन्त क्या होगा ?

### पोर्तगीज शासन का आत्मसमर्पण

19.12.1961 को भारत का प्लेन फिर से आया। प्लेन ने धुआँधार बम बरसाना शुरू कर दिया पहले तो प्लेन से पैम्फलेट बरसाया गया, जिसमें लिखा था 'आप लोग आत्मसमर्पण कर दें नहीं तो पूरा दमण खत्म कर देंगे।' जब लोगों ने इसे पढ़ा तो घबरा गए। नरीमन भाई ने जब देखा की जनता कि स्थिति असह्य होती जा रही है तो वे कुछ लोगों के साथ गवर्नर से मिले। गवर्नर उनके नजदीकी मित्र थे। वे वाडिया की बात मानते थे। उन्होंने उन्हें सलाह दी कि दमण की जनता के हित में वे आत्मसमर्पण कर दें, नहीं तो बहुत बर्बादी होगी। गवर्नर ने इस तथ्य को स्वीकारा किन्तु उसने कहा कि यह नैतिक रूप से उनके लिए ऐसा करना सही नहीं होगा। "मैं एक सैनिक हूँ। कहीं से घायल नहीं हूँ। अगर मैं इस हालत में आत्मसमर्पण कर दूँ तो पुर्तगाल की जनता को क्या जवाब दूँगा ? इसलिए जब तक उन्हें गोली नहीं लगती, वे आत्मसमर्पण नहीं करेंगे।" उनकी बात सही थी, परन्तु इस समस्या का तुरन्त समाधान भी हो गया। उनके इस तर्क से विशुब्ध होकर, उन्हीं के एक सैनिक ने उनके पाँव पर गोली चला दी। वे घायल हो गए। तीन बत्ती के पास वाड़ी में भारतीय मिलिट्री थी। गवर्नर को गाड़ी में बिठाकर वहाँ ले जाया गया। वहाँ उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। अब हर जगह यह सूचना दे दी गई कि पोर्तगीजों ने आत्मसमर्पण कर दिया।

### स्वाधीन दमण

भारतीय सेना सवेरे आठ-से-नौ बजे तक दमण में प्रविष्ट हो गई। पोर्तगीज मिलिट्री को गिरफ्तार कर लिया गया। दमण की जनता को घर से बाहर निकलने की अनुमति दे दी गई। जब लोग बाहर निकले तो उन्होंने देखा कि बाहर बम पड़े हैं। कारतूस और बन्दूकें तथा अन्य कई प्रकार के हथियार रास्तों पर पड़े थे। बम के गोले दो-तीन महीनों तक इधर-उधर फूटते रहे। जनता अब भी प्लेन आने पर घबरा जाती थी। धीरे-धीरे उनमें नए साहस का उदय होने लगा और उनमें स्वाधीनता का बोध जागने लगा।



### 19.12.1961 दमण की मुक्ति का दिन था।

स्वाधीनता के पश्चात् दमण के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में क्रमशः बदलाव आए हैं। कई बड़े औद्योगिक संस्थानों ने यहाँ अपने कारखाने लगाए हैं। अच्छे होटलों की अभिवृद्धि हुई।

स्कूल की शिक्षा के पश्चात् दमण कॉलेज यहाँ के लोगों की स्नातक तक की शिक्षा की आवश्यकताएँ पूरी करता है। यह सरकारी कॉलेज है जहाँ कला एवं विज्ञान की शिक्षा प्रदान की जाती है। यह दुनेठा रोड की ओर अवस्थित है। दमण का अपना हवाई-अड्डा भी है। नानी दमण एवं मोटी दमण में चिकित्सा के लिए सरकारी अस्पताल हैं।

मोटी दमण एवं नानी दमण के बीच प्रवाहित दमण गंगा पर सरकार ने एक पुल बनवाया था जो वर्षा और बाढ़ के प्रहार को झेल नहीं सका तथा 28 अगस्त, 2003 को ध्वस्त हो गया। इस दुर्घटना में 24 लोगों की जानें गईं, जिनमें 17 बच्चे थे। सरकार ने एक बार पुनः इस पुल का निर्माण कराया, परन्तु 2004 की बरसात में यह पुनः आंशिक रूप से क्षतिग्रस्त हो गया।

पिछले दस वर्षों में बाहर की आबादी दमण की ओर आकर्षित हुई है। सरकार दमण को पर्यटन स्थल बनाने के लिए प्रयत्नशील है तथा इस दिशा में दमण में कई नए आकर्षण जोड़े गए हैं।

## तुलसीदास के जीवन की उपेक्षित घटनाएँ

विष्णुदत्त शर्मा\*

अकबर बादशाह के नवरत्नों में प्रतिष्ठित कविवर अब्दुल रहीम खानखाना एवं संतकवि तुलसीदास के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्धों को दर्शाता दोहा है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, अस चाहति सब कोय ।  
गोद लिए हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय ॥

उपर्युक्त दोहे में पहली पंक्ति कवि शिरोमणि तुलसीदास की है तो उसके प्रत्युत्तर में कवि रहीम ने दूसरी पंक्ति लिख भेजी। यह दुनिया का दस्तूर है कि बालक अनाथ हो तो परिवार-जन भी पीछे हट जाते हैं, किन्तु वही बालक बड़ा होने पर सक्षम तथा समर्थ हो जाता है तो सभी उसको अपना कहते हुए अधिकार दिखाते हैं। यदि बच्चा चोर-डाकू बन जाता है तो माता-पिता भी दूर हो जाते हैं और इसके विपरीत बच्चा देश की माननीय शक्ति होता है तो अध्यापक भी अपना-अपना शिष्य बतलाने लगते हैं। अनेक संभ्रांत व्यक्ति बच्चे को अपना पारिवारिक सदस्य, विभिन्न ग्रामीण अपने-अपने ग्राम में उसका जन्म-स्थान कहते हैं। यही कारण है कि संत तुलसीदास के जन्म-स्थान को लेकर अनेक भ्रांतियाँ तथा जनश्रुतियाँ पढ़ने और सुनने में आईं। जनश्रुतियों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने गोसाईं तुलसीदास का जन्म स्थान हाजीपुर, हस्तिनापुर, राजापुर, काशी, अयोध्या, तारी, रामपुर (एटा) और सोरों के योगमार्ग मोहल्ले का उल्लेख किया है।

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय में आयोजित (18-21 नवम्बर, 2005) “विज्ञान संचार में नवाचार” राष्ट्रीय संगोष्ठी में मुझे ‘रामचरितमानस में विज्ञान’ विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया गया। चित्रकूट प्रवास की अवधि में मुझे राजापुर जाने का अवसर मिला और वहाँ तुलसीदास से सम्बन्धित जन्म स्थली के दर्शन किए। राजापुर के शासकीय विवरण और प्राचीन जनश्रुतियों से यह स्पष्ट है कि तुलसीदास का जन्म राजापुर में नहीं हुआ क्योंकि संतकवि के जन्म-समय राजापुर नाम का स्थान अस्तित्व में ही नहीं था, बल्कि उस स्थल पर विक्रमपुर ग्राम था। जनश्रुति के अनुसार सम्राट अकबर के काल में तुलसीदास जी सोरों के निवासी थे, उन्होंने वहाँ से आकर राजापुर की नींव डाली और जनता को भगवद्-भक्ति की ओर

\* हिन्दी के जाने माने विज्ञान साहित्य के लेखक।

प्रेरित किया। इस सम्बन्ध में सबसे पहला गजटिपर सन् 1874 में प्रकाशित हुआ जो इस प्रकार है—

“Tradition has it that in Akbar’s reign, a holy man, Tulsidas, a resident of Soron, in Parganah Aliganj of Etah District, came to the jungle on the banks of the Jumna, where Rajapur now stands, erected a temple, and devoted himself to prayer and meditation. His sanctity soon attracted followers, who settled around him, and as their numbers increased they began to devote themselves (and with wonderful success) to commerce as well as to religion. There are some curious local customs peculiar to Rajapur derived from the precepts of Tulsi...”

—*Statistical Description and Historical Account of the North-Western Province of India*, Edited by Edwin. T. Atkinson, B.A., B.C.S., Vol.I, BundelKhand, Allahabad, 1874, Pages 572-3.

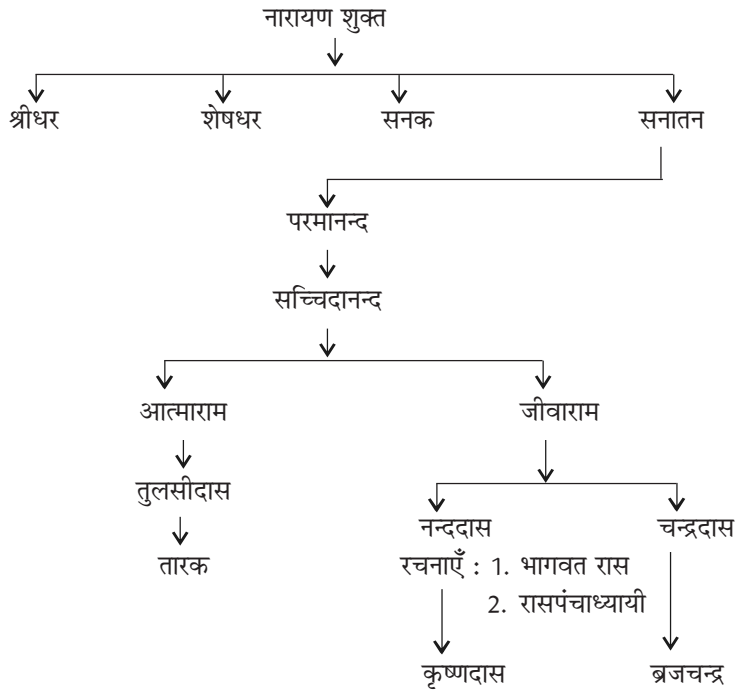
सोरों, जिसका नाम सूकर क्षेत्र था, के विषय में भी अनेक भ्रांतियाँ हैं कि यह स्थान कहाँ पर है? अतः वराह पुराण (पृष्ठ 137, 179), ब्रह्म पुराण (अ. 79, 17-12) एवं गर्ग संहिता (मथुरा खण्ड 24, 86-88) से स्पष्ट है कि सूकरक्षेत्र भागीरथी गंगा के तट पर है तथा वह रामतीर्थ, कौशाम्बी और कर्णक्षेत्र के निकट है। ‘कौशाम्बी’ अलीगढ़ का कोल, ‘रामतीर्थ’ बुलन्दशहर जिले का रामघाट, और ‘कर्णक्षेत्र’ बुलन्दशहर जिले का कर्णवास है। तुलसीदास के समकालीन ग्रन्थ ‘आईने अकबरी’ के अनुसार भी सोरों में वराह जी का अवतार हुआ। पौराणिक कोश (ले. राणा प्रसाद शर्मा पृष्ठ 535) पर लिखा है कि यही सूकरक्षेत्र, जिसका वर्तमान नाम सोरों है जहाँ पर भगवान विष्णु ने वराह अवतार धारण कर हिरण्याक्ष को मारा था।

अतः अनेक देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा व्यक्त विचारों के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि कवि शिरोमणि तुलसीदास जी का जन्म संवत् 1554 विक्रमी (सन 1497 ई.) में रामपुर (एटा) में हुआ, गर्भ-स्थिति तारी में जो तुलसीदास की ननिहाल थी और विद्याध्ययन गुरु नरसिंह जी से सोरों में। रामपुर और तारी दोनों ही ग्राम सोरों से क्रमशः चार-पाँच किलोमीटर की दूरी पर हैं। यह तारी गंगा-यमुना के अन्तर्वेद में तो है ही, गंगा और काली नदी के भी अन्तर्वेद (दोआब) में है। रामपुर नाम का ग्राम गंगा जी के किनारे सोरों के पास था जहाँ तुलसीदास जी के पूर्वज रहते थे। कृष्णदास ने, जो नन्ददास के पुत्र और तुलसीदास के भतीजे थे, अपनी वंशावली लिखी, उसमें तुलसीदास, नन्ददास और रामपुर का उल्लेख है। सं. 1829 वि. (सन् 1772 ई.) में मुरलीधर चतुर्वेदी ने ‘रत्नावली चरित’ में निम्नलिखित पंक्तियाँ नरहरि, तुलसीदास और नन्ददास के विषय में लिखी हैं—

चक्रतीर्थ ढिंग पाठशाल तहीं पठावत विपुल बाल।  
तहाँ रामपुर के सनाढ्य सुकुल वंशधर द्वै गुनाढ्य।

तुलसीदास अरु नन्ददास पढ़त करत विद्या विलास।  
एक पितामह पौत्र दोऊ चन्द्रहास लघु अपर सोउ। 61-64

## वंशावली



गोस्वामी तुलसीदास का विवाह दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से 1589 वि. (सन् 1532 ई.) में और चार वर्ष बाद गौना हुआ था। सोरों के सम्मुख गंगा पार ग्राम बदरिया में रत्नावली का जन्म संवत् 1577 विक्रमी (सन् 1520 ई.) में तथा देहावसान 74 वर्ष की आयु में संवत् 1651 वि. (सन् 1594 ई.) में हुआ था। रत्नावली की माता का नाम दयावती था। वह तीन भाइयों की अकेली बहन थी। अत्यन्त सुन्दर, विदूषी एवं पतिव्रता थी। बारह वर्ष की आयु में संवत् 1589 वि. (सन् 1532 ई.) में विवाह। इनके एकमात्र पुत्र तारक हुआ जिसका अल्प आयु में निधन हो गया। विवाह के पन्द्रह वर्ष बाद तथा रत्नावली को 27 वर्ष की आयु में संवत् 1604 वि. (सन् 1547 ई.) में तुलसीदास छोड़कर चले गए क्योंकि रत्नावली बिना बतलाए अपने पिता के घर चली गई थी और पीछे-पीछे तुरन्त रात्रि में जब तुलसीदास लेने गए तो रत्नावली के कटाक्ष को सहन न कर सके—

लाज न लागत आपको दौरै आएहु साथ ।  
 धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहा कहों मैं नाथ ॥  
 अस्थि चर्ममय देह मम तामैं जैसी प्रीति ।  
 तैसी लौ श्रीराम महं, होति न तो भवप्रीति ॥

नाभादास-कृत सेवादास की टीका 'भक्तमाल' पर प्रियादास ने 'भक्ति रस बोधिनी' टीका लिखी, उस पर सेवादास ने टीका की जो मार्गशीर्ष शुक्ला-10 गुरुवार सं. 1894 वि. (सन् 1837 ई.) को पूर्ण हुई। प्रियादास ने लिखा था—

तिया सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई,  
 भूलि सुधि देह भजै वाहि ठोर आए हैं ।

उक्त 'वाहि ठोर' को सेवादास जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सुनों लषि गेह उमड्यो तिय सनेह जिय,  
 रत्नावलि दर्श हेतु नैन अकुलाय हैं ।  
 भादों की अरध राति चपला चमकि जाति,  
 मन्द-मन्द बिन्दु परें घोर घन छाय है ।  
 असे में तुलसी घेत सूकर सों मोद भरे,  
 चपल चाल चलत जात गंगधार धाये हैं ।  
 शव पै सवार हवै गंगधार पार करी,  
 बदरी ससुरारि जाय पौरिया जगाए हैं ।

तुलसीदास जी का जन्म एक दरिद्र कुल में हुआ था, इसी कारण उन्हें जीवन के अनेक कष्ट झेलने पड़े ।

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो, सुनि  
 भयो परितापु पापु ननी जनक को ।  
 बारे तें ललात-बिललात मार-द्वार दीन,  
 जानत हो चारि फल चारि ही चनक को ।

—कवितावली 30 का. 73

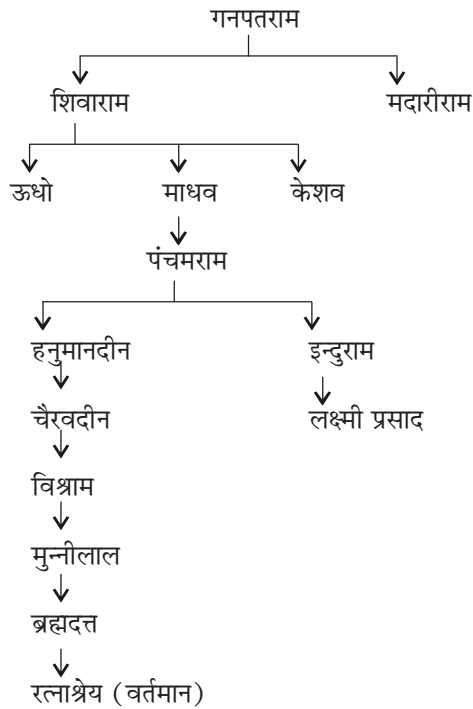
जब गर्भावस्था में थे तो ननसाल में, बाल्यावस्था में माता-पिता स्वर्गवासी हो गए, युवावस्था में पत्नी से अलग होकर वैराग्य में रहे । एक अनाथ बालक जीवन में कैसे सुख की अनुभूति कर सकता है । इसलिए तुलसीदास का सम्पूर्ण जीवन परिस्थितियों के झंझावातों में ही बीता । वृद्धावस्था के आते ही तुलसीदास जी शरीर से रोगी और जीर्ण हो गए थे—

भुज तरू कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रबेस ।  
 बिहगराज बाहन तुरत काढ़िअ मिटै कलेस ॥

—दोहावली, 235

संवत् 1604 वि. (सन् 1547 ई.) में अपनी पत्नी रत्नावली से विरक्त होकर वैराग्य के बाद संत और भक्त होने के नाते तुलसीदास ने पर्यटन किया था। पर्यटन स्थलों में अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट, विक्रमपुर (वर्तमान राजापुर), बदीरकाश्रम, प्रयाग तथा चित्रकूट के मध्य स्थित सीतावट आदि मुख्य हैं। इन्होंने अपना अधिकतर समय विरक्ति के उपरान्त विक्रमपुर (वर्तमान राजापुर) ग्राम में व्यतीत किया। यहीं पर तुलसीदास जी ने अपना आश्रम बनाया तथा उनके अनेक शिष्य अनुयायी रहे। आज भी शिष्यों के वंशज वहाँ पर दसवीं पीढ़ी के रूप में उत्तराधिकारी हैं। 21 नवम्बर, 2005 को जब मैं तुलसी मन्दिर में स्थापित गद्दी पर तुलसीदास के मुख्य शिष्य गनपतराम के वंशज पं. रामाश्रेय त्रिपाठी जी से मिला तो उन्होंने संतकवि तुलसीदास जी के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी दी और मुख्य दस्तावेज भेंट किए।

### तुलसीदास की शिष्य वंशावली



सन् 1886 में प्रकाशित इम्पीरियल गजटियर ऑफ इण्डिया के आधार पर कहा जा सकता है कि राजापुर की नींव संत तुलसीदास ने डाली की थी। यह स्थान महाकवि का साधना स्थल था। यहाँ अपने प्रवास में महाकवि तुलसीदास ने वैराग्य संदीपनी (सं.

1626-27), रामाज्ञा प्रश्न (सं. 1627-28), रामलला नहलू (सं. 1828-29) तथा जानकी मंगल (सं. 1629-30) ग्रन्थों की रचना की थी। सं. 1631 वि. (सन् 1574 ई.) रामचरितमानस की रचना तुलसीदास ने अयोध्या में प्रारम्भ की थी, किन्तु बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड और अरण्यकाण्ड लिखने के पश्चात वे काशी पहुँच गए थे तथा वहीं उन्होंने किष्किंधाकाण्ड प्रारम्भ किया था।

“Rajapur was founded in the reign of Akbar by Tulsidas, a devotee from Soron, who erected a temple, and attracted many followers....”

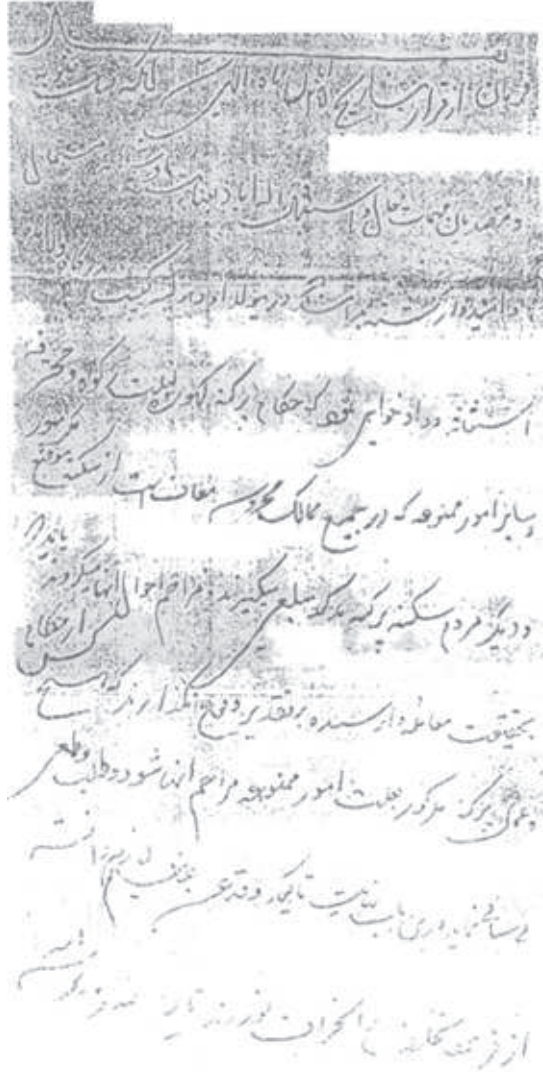
Imperial Gazetteer of India, Vol. XI by W.W.Hunter,  
Second Edition, 1886, Pages 385-86.

“Rajapur is the name of the town, and Majhgaon that of the Mauza or Village area within which it is situated. According to tradition the town was founded by Tulsidas, the celebrated author of the Ramayan and his residence is still shown...”

Imperial Gazetteer of India u.p, II (Provincial Series), Calcutta 1908,  
Page 50.

तुलसीदास जी एक युग प्रवर्तक कवि थे, जिन्होंने अपनी ज्ञान-गरिमा से अगणित नर-नारियों के सुख-शान्ति एवं अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया था। वे एक उच्चकोटि के संत थे, जिनके आशीर्वाद हेतु सम्राट अकबर के अनेक दरबारी नरेश विशेषतः सम्राट के सेनापति आमेर नरेश मान सिंह तथा उनके अनुज जगत सिंह उनके पास आते रहते थे। सम्राट के दरबारी कवि अब्दुल रहीम खानखाना से तुलसीदास का मित्रवत व्यवहार था, जिनके माध्यम से संतकवि तुलसीदास का सम्राट अकबर से परिचय हो गया था। सम्राट स्वयं बड़े धर्मनिष्ठ तथा सूफी संतों के कृपा पात्र थे। वह फतेहपुर सीकरी के इबादत खाने की धर्म सभाओं में भी भाग लेते थे। एक बार पूर्वी प्रदेश की जलमार्ग यात्रा में सम्राट ने राजापुर पधारकर तुलसीदास जी की धर्म-चर्चा से प्रभावित होकर आवान, माह की 25 तारीख सन् 1 इलाही (1585 ई.) में संत कवि तुलसीदास को राजापुर की 96 बीघा 3 बिस्वा भूमि तथा राजापुर हाट-घाट, कलारी (मद्यकर), सायर (चुँगी) आदि की माफी प्रदान की थी, जिसका उपयोग उनके उत्तराधिकारी आज भी किसी न किसी रूप में कर रहे हैं। (दस्तावेजों के फोटो-प्रति संलग्न हैं।)

अकबर कालीन साक्ष्य विषयक दस्तावेज व अन्य चित्र



गो. तुलसीदास के वंशज ऊधो पुत्र गनपत का राजापुर के अधिकारियों तथा राजापुर निवासियों के विरुद्ध सम्राट अकबर प्रदत्त माफी की वसूली में बाधा डालने के सम्बन्ध में दिल्ली सम्राट को सम्बोधित शिकायती प्रार्थना पत्र।

(तुलसी शिष्य वंशज पं. रामाश्रय त्रिपाठी से साभार)

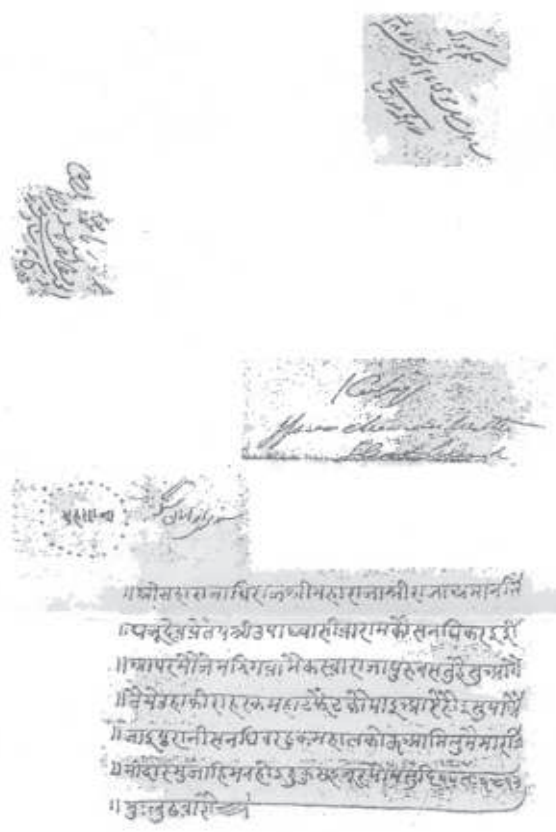




|| श्रीमहाराजगणेश्वरदिवांगडिद्विपतिमहेश्वरतेपश्रीसीवारा  
|| श्रीपेटोकारिदपीश्रीपेटवशुकुनत्रापामोनेविश्वीपुत्रुभैर  
|| वेदसाविप्रदछासादिश्रीभैरवोऽसिदमेसपश्रीजाति  
|| राजा उदिर... कु...

तुलसी के वंशज सीवारा को उनकी माफी के नवीनीकरण  
हेतु महाराजा अमान सिंह ओरछा नरेश के दीवान हिन्दूपति का आदेश ।

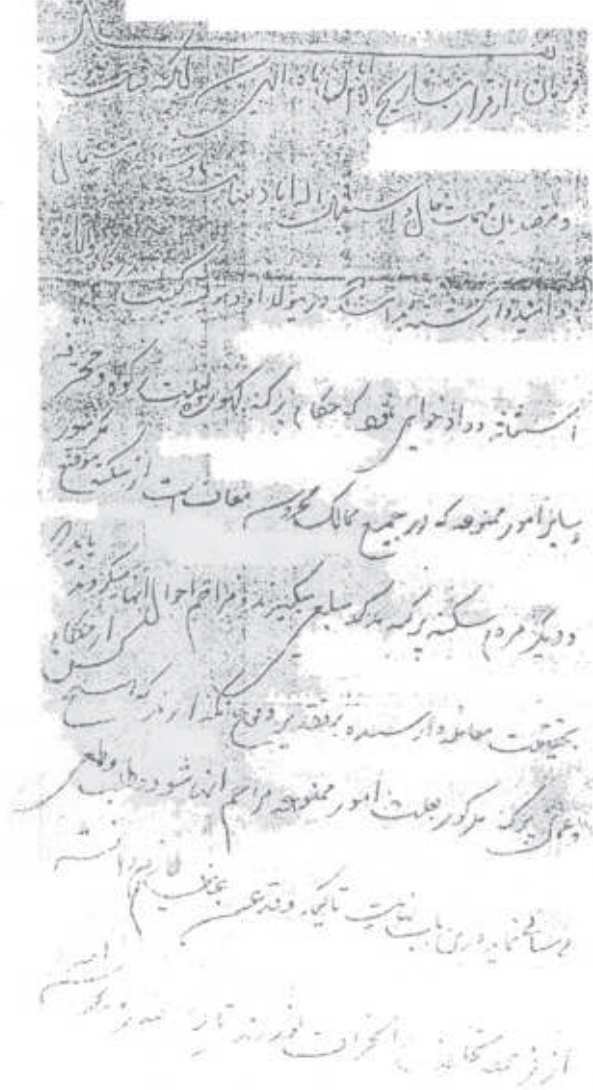
(तुलसी मंदिर, राजापुर (बांदा) के महंत  
पं. रामाश्रेय त्रिपाठी से साभार)



ओरछा नरेश महाराजा अमान सिंह द्वारा सीवाराम को सनद देने का आदेश जिसके द्वारा राजापुर का नाम विक्रमपुर की जगह राजापुर हो गया ।

(तुलसी मंदिर, राजापुर (बांदा) के महंत एवं तुलसी शिष्य के वंशज पं. रामाश्रय त्रिपाठी से साभार)

अकबर कालीन साक्ष्य विषयक दस्तावेज व अन्य चित्र



गो. तुलसीदास के वंशज ऊधो पुत्र गनपत का राजापुर के अधिकारियों तथा राजापुर निवासियों के विरुद्ध सम्राट अकबर प्रदत्त माफी की वसूली में बाधा डालने के सम्बन्ध में दिल्ली सम्राट को सम्बोधित शिकायती प्रार्थना पत्र।



उक्त प्रार्थना पत्र के जाँच के पश्चात् दिल्ली सम्राट का आदेश

## अठारह सौ सत्तावन का स्वतन्त्रता-संग्राम एक दृश्य : दो दृष्टियाँ

डॉ. कृष्णचन्द्र गोस्वामी

जिन लोगों ने अठारह सौ सत्तावन के स्वातन्त्र्य-समर के घटना-क्रम को प्रत्यक्ष रूप से देखा और लिपिबद्ध किया उनमें दिल्ली के पहाड़गंज थाने के तत्कालीन कोतवाल मुईनुद्दीन हसन खाँ और महाराष्ट्र के कर्मकाण्डी ब्राह्मण विष्णु भट्ट गौड़से बरसईकर के नाम उल्लेखनीय हैं। एक ने अपनी पुस्तक उर्दू में 'खदंगे-गदर' के नाम से लिखी; तो दूसरे ने मराठी में 'माँझा-प्रवास' के नाम से। इन दोनों पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद क्रमशः दिल्ली-विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के प्रोफेसर अब्दुलहक और हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार अमृतलाल नागर ने किए। किन्तु यह अजीब संयोग है कि दोनों ही अनुवादकों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इन पुस्तकों के मूल नामों को बदलकर जो नए नाम दिए; वे प्रायः एक-से ही हैं। मुईनुद्दीन की पुस्तक 'गदर-1857' (आखों देखा विवरण) और विष्णुभट्ट की पुस्तक 'आँखों देखा गदर' के नाम से हिन्दी पाठकों के पास पहुँची। प्रोफेसर हक ने " 'खदंगे-गदर' को 'गदर-1857' करने की वजह का खुलासा करते हुए 'दो-शब्द' में लिखा कि " 'खदंगे-गदर' का अनुवाद 'विद्रोह की फाँस' या 'विद्रोह का तीर' होना चाहिए। परन्तु यह बहुत भला नहीं लगा, इसलिए इसका नाम 'गदर-1857' रखा गया। जो अच्छा भी लगता है और ऐतिहासिक घटनाक्रम का सारांश व केन्द्र बिन्दु भी है।"

यहाँ इस नाम-परिवर्तन के सम्बन्ध में दो बातें कहनी हैं—एक तो यह कि इन नामों से पाठकों में यह भ्रम सामान्यतः फैला है कि ये दोनों पुस्तकें 'आँखिन देखी' घटनाओं के विवरण बताने वाली हैं। जबकि स्वयं लेखकों की ओर से ऐसा कोई दावा इन पुस्तकों के सम्बन्ध में नहीं किया गया। मुईनुद्दीन अठारह सौ सत्तावन के पूरे घटनाक्रम में से केवल दिल्ली की घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी था। शेष विवरण उसने औरों से सुनकर तथा अपनी 'समझ' से सत्य मानकर पुस्तक में शामिल किए हैं; यह बात उसने अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दी है। (देखिए : पृष्ठ-2 तथा 5)। इसी

\* श्री निकुंज, बी-90, जवाहर नगर, भरतपुर (राज.)

तरह; विष्णु भट्ट गौड़से जिन घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी रहा उनमें ग्वालियर, झाँसी और कालपी के नाम लिये जा सकते हैं। अन्य घटनाओं के विवरण उसने जहाँ और जिनसे सुने, पुस्तक में उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया है। ऐसी स्थिति में, इन दोनों पुस्तकों के नामों को पढ़कर पाठक के मन में प्रथम दृष्ट्या जिन अपेक्षाओं का जागरण होता है, पुस्तक पढ़ने पर वे पूरी नहीं होतीं।

दूसरी बात यह कि अनुवादकों ने इस ओर कतई ध्यान नहीं दिया कि इन दोनों पुस्तकों के मूल-नाम का कुछ सम्बन्ध इनके लेखकों के व्यक्तित्व से भी हो सकता है! पुस्तकों के नाम बदलने का कारण कुछ भी क्यों न रहा हो, किन्तु इतना अवश्य है कि इस नाम-परिवर्तन ने पुस्तकों के मूल-नामों के साथ जुड़ी लेखकीय आकांक्षाओं को पाठक के सामने निष्प्रभ-सा कर दिया है।

इन दोनों पुस्तकों के मूल नामों के साथ लेखकीय आकांक्षाओं का सूत्र किस रूप में जुड़ा है, पहले जरा इसे देखें। विष्णुभट्ट गौड़से एक अत्यन्त गरीब किन्तु विद्वान कर्मकाण्डी ब्राह्मण था। ग्वालियर की रानी द्वारा कराए जाने वाले यज्ञ में 'अर्थलाभ' होगा; इस कामना से उसने बरसई (पूणे) से अपने काका के साथ यात्रा आरम्भ की। देश में व्याप्त तात्कालिक राजनीतिक उठा-पटक के प्रति उसके मन में जरा-सा भी लगाव न था। यही कारण है कि वह पूरी पुस्तक में निर्लिप्त भाव से धनाकांक्षी होकर भटकता रहा। उसे धन तो मिला किन्तु ब्रिटिश फौजों ने उससे वह लूट लिया; यह और बात है। विष्णुभट्ट के व्यक्तित्व के इस पक्ष को यदि एक-दो उदाहरणों से देखें तो बात एकदम स्पष्ट हो जाएगी।

झाँसी जीतने के बाद अँग्रेजों ने वहाँ इतना भीषण विनाश किया कि 'झाँसी लावारिश लाशों का महाशमशान-सी दिखती थी। इसके अलावा हजारों बैल, ऊँट, हाथी, घोड़े, कुत्ते, भैंसे आदि जानवर भी मरे पड़े थे।' (पृष्ठ-79) गौड़से ने इस विनाश काल में एक मकान की बखरी में आश्रय लिया। जब विनाश बंद हुआ तो गौड़से की प्रतिक्रिया थी—'हमें बड़ा आनंद हुआ और बखरी से निकलकर मुक्तमन से घर में आकर बैठे। आनन्द से स्नान-भोजन हुआ।' (पृष्ठ-77) स्नान और भोजन का आनन्द!! कैसी हृदय-विदारक निर्लिप्तता है यह; अपने परिवेश के प्रति!!

एक दूसरा उदाहरण भी देखिए—लक्ष्मीबाई की वीरगति ग्वालियर में हुई, ये समाचार गौड़से को जालौन में किसी ब्राह्मण से मिले। सब हाल सुनकर इन काका-भतीजों ने तय किया—'चित्रकूट के पेशवे आजकल बाँदा में कैद हैं और रोज ही वहाँ सौ-सवा-सौ रुपए दान दिए जाते हैं। इसलिए वहाँ चलकर थोड़ा-सा पैसा जुटा लिया जाय।' (पृष्ठ-102)

यह है गौड़से का व्यक्तित्व : ऐसे व्यक्ति के लिए यह यात्रा केवल 'माझा प्रवास' ही हो सकती थी, 'आँखों देखा गदर' नहीं; ऐसा हमारा स्पष्ट मत है।

जहाँ तक मुईनुद्दीन के व्यक्तित्व का प्रश्न है तो वह स्पष्टतः कम्पनी सरकार का

हितैषी था। उसने जॉन मेटकॉफ तथा दिल्ली में फँसे दूसरे अंग्रेजों को बचाने के लिए बादशाह बहादुरशाह जफर से जिस तरह षड्यन्त्रपूर्वक कोतवाल का अधिकार प्राप्त किया; वह सब उसकी पुस्तक के पृष्ठ 21 से 32 तक में सविस्तार लिखा है। उसी के शब्द हैं—‘हंगामे के दिन मैंने किले में जाकर बादशाह से शहर की व्यवस्था के लिए निवेदन किया था और अंग्रेजों को बचाने के लिए कोतवाल बना था।’ (पृष्ठ-32) साफ है कि मुईनुद्दीन विष्णुभट्ट की तरह उस समय के राजनीतिक घटनाक्रम से निर्लिप्त नहीं था अपितु उसके दिल्ली सम्बन्धी विवरण को पढ़ने पर लगता है कि वह पूरी सक्रियता और निष्ठा के साथ अंग्रेजों का सहयोग कर रहा था। अंग्रेजों के सुख-दुख ही उसके सुख-दुख बने हुए थे। इसीलिए कानपुर में नाना साहब पेशवा द्वारा बन्दी बनाए अंग्रेजों के बारे में उसने लिखा कि “नाना राव ने उन पर बड़ा अत्याचार किया जिसका वर्णन भी दुखदाई है।” (पृष्ठ-57)

गदर की समाप्ति पर इस आड़े समय में अंग्रेजों की सहायता करने के फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार ने उसे पाँच हजार रुपए देकर सम्मानित किया। (पृष्ठ-4) जबकि; भारतीय इतिहासकारों ने इस मुईनुद्दीन का नाम दिल्ली दरबार में बहादुरशाह जफर के चारों ओर जमा हुए मिर्जा इलाहीबख्श, मुंशी रज्जब अली और मौलवी मुहम्मद बाकर जैसे देशद्रोहियों की सूची में रखा है। (1857 का स्वातन्त्र्य समर : एक पुनरावलोकन; डॉ. एस.सी. मित्तल, पृष्ठ-46)

ऐसी स्थिति में, स्पष्ट है कि जिस विद्रोह ने अंग्रेजों के सुख-चैन में फाँस की तरह खलल पैदा की हो, उसके सम्बन्ध में लिखी पुस्तक को अंग्रेजों के परम हितैषी मुईनुद्दीन हसन खाँ ने ‘खदंगे-गदर’ नाम कुछ सोच-समझकर ही दिया होगा।

### अठारह सौ सत्तावन : विद्रोह के कारण

मुईनुद्दीन ने इस विद्रोह के दो प्रमुख कारण बताए हैं—एक चर्बी लगे कारतूसों की अफवाह और दूसरे अवध की रियासत का अंग्रेजों द्वारा हड़पा जाना। गौडसे ने अलग से इस विद्रोह के कारणों पर विचार नहीं किया है; क्योंकि उसकी इस विप्लव में कोई रुचि नहीं थी। फिर भी, प्रसंगतः जहाँ-तहाँ यह ‘महासंग्राम’ क्यों हो रहा है? इस की चर्चा उसकी किताब में आ गई है। कानपुर में अंग्रेजों से पराजित होकर जब नाना साहब पेशवा बिठूर की ओर चले तब विदा करने आए अपने सहयोगियों के सामने नाना साहब के छोटे भाई बाला साहब ने जो कुछ कहा उसमें इस संघर्ष के मूल कारणों की ओर संकेत किया है। बाला साहब के शब्द हैं—“हिन्दू धर्म और ‘हिन्दू राज्य’ के लिए एक बार फिर प्रयत्न करना होगा।” (पृष्ठ-38) गदर के कारण के रूप में आगे चलकर इन्हीं दोनों बातों को ‘स्वधर्म’ और ‘स्वदेश’ के रूप में चीर सावरकर ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘अठारह सौ सत्तावन का स्वन्त्रता-संग्राम’ में दुहराया है। (द्रष्टव्य : सावरकर समग्र, खण्ड-5, पृष्ठ 19 से 29 तक)

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गौडसे को इन कारतूसों के बारे में जानकारी नहीं थी। सत्य तो यह है कि गौडसे को महु छावनी से दो-तीन मंजिल (पड़ाव) पहले गदर की जो पहली सूचना मिली; उसी में 'गाय और सूअर की चर्बी से बने कारतूसों से हिन्दू-मुसलमान सिपाहियों में सनसनी फैल गई है।' यह बात जानकारी में आ गई थी। किन्तु इस सूचना के मिलने के दिन से लेकर 'माँझा प्रवास' लिखने के दिन तक विष्णुभट्ट गौडसे इस बात पर विश्वास नहीं कर सका कि केवल कारतूसों के कारण भी इतना बड़ा गदर हो सकता है। उल्लेखनीय है कि उन दिनों इन कारतूसों की घटना के चारों तरफ धर्म की दुहाई बड़े जोर-शोर से फिर रही थी अतः गौडसे ने लिखा—“उन दिनों धर्म की स्थिति और उस पर लोगों का श्रद्धा-मान कुछ निराला ही था और यह कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है कि आजकल के जमाने में (पुस्तक लिखे जाते समय) केवल कारतूसों के कारण इतना बड़ा गदर कभी नहीं हो सकता।” (पृष्ठ-33)

यहाँ 'उन दिनों' और 'आजकल' में जो कालगत आयाम का संकेत है; उससे ऐसा माना जा सकता है कि गौडसे ने यह पुस्तक सन् 1900 के आस-पास लिखी होगी। अमृतलाल नागर ने उनका देहावसान सन् 1903 में 75 वर्ष की आयु में लिखा है। किन्तु यह सन् अशुद्ध है। डॉ. चन्द्रकान्त वांदिबडेकर जी के अनुसार विष्णुभट्ट गौडसे का निधन 1907 ई. में हुआ और इसी वर्ष-वैद्य महोदय ने माँझा-प्रवास का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया।

खैर; जो बात गौडसे के मन को स्वीकार नहीं हो पाई; उससे अंग्रेज भी हैरान थे। क्योंकि जिन चर्बी लगे कारतूसों की टोपी दाँत से तोड़ने पर धर्म से ही हाथ धो बैठने की बात का बतंगड़ बना था; अंग्रेजों से युद्ध करते समय उन्हीं कारतूसों को; वे ही सिपाही अंग्रेजों पर निःसंकोच चला रहे थे। (सावरकर समग्र, खण्ड-5, पृष्ठ 86)

### अठारह सौ सत्तावन : कुछ प्रमुख घटनाएँ

अठारह सौ सत्तावन का महासंग्राम का प्रभाव पश्चिमोत्तर में पेशावर-स्यालकोट से लेकर कलकत्ता तक और दक्षिण भारत में महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, गोवा, पांडिचेरी के लगभग तीस से अधिक प्रमुख स्थानों पर प्रत्यक्षतः दिखाई दिया। (देखिए—डॉ. वी.डी. दिग्वेकर की पुस्तक—*साउथ इण्डिया इन 1857 : वार ऑफ इंडिपेन्डेन्स (1993)*) इतने विशाल क्षेत्र में और इतने समय तक चले इस स्वतन्त्रता-संग्राम की सभी घटनाओं का साक्षी हो पाना किसी के लिए भी सम्भव न था। मुईनुद्दीन और गौडसे की पुस्तकों में भी अनेक विवरण दूसरों से सुनकर शामिल किए गए हैं; इस बात का संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं। यहाँ हम इन दोनों पुस्तकों में वर्णित कुछ प्रमुख घटनाओं की चर्चा करेंगे—



## दिल्ली

‘माँझा-प्रवास’ में विष्णुभट्ट गौडसे ने बिदूर से ग्वालियर लौटे लोगों से बिदूर के जो हाल सुने उनमें दिल्ली की चर्चा इन शब्दों में आई है—‘मेरठ की छावनी के शूर सिपाहियों ने धर्म की रक्षा के लिए अंग्रेजों को मारकर दिल्ली के बादशाह को अपना अधिपति मान लिया है।’ (पृष्ठ 31) किन्तु मुईनुद्दीन ने दिल्ली की घटना को कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखा है। दिल्ली में वह स्वयं अंग्रेजों को बचाने में दिन-रात एक किए रहा; यह बात पहले कही जा चुकी है। मुईनुद्दीन के दिल्ली वर्णनों की विशेषता यह है कि उसमें बादशाह को अत्यन्त दुर्बल व्यक्तित्व वाला दिखाया गया है; (पृष्ठ-25-26)। किन्तु उसके इस प्रकार के प्रसंगों में कुछ ऐसे भी हैं जो काल्पनिक लगते हैं। उदाहरणार्थ; मुईनुद्दीन एक स्थान पर लिखता है कि “एक दिन बादशाह ने मुनादी करा दी कि आज हम स्वयं पहाड़ी पर आक्रमण करेंगे। सिपाही लोग एकत्र हुए। बादशाह की सवारी लाहौरी दरवाजे तक गई तो बादशाह लघुशंका के बहाने पुनः किले में चले गए और महल में प्रवेश कर गए।” (पृष्ठ-44)

वस्तुतः यही नहीं और भी ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें मुईनुद्दीन की अंग्रेज-परस्ती उजागर हुई है। जब उसे बादशाह ने दिल्ली का कोतवाल बना दिया तो वह हकीम अहसानुल्लाह वजीर के पास आवश्यक कार्यवाही कराने पहुँचा। वजीर ने उसे अधिकार-पत्र देने में आनाकानी की तो मुईनुद्दीन ने कहा—“वैसे यह अच्छी तरह जान लें कि यह फसाद थोड़े दिनों का है यदि इस अवसर पर अंग्रेजों को बचाने की व्यवस्था नहीं की गई तो परिणाम अच्छा नहीं होगा।” (पृष्ठ-26)

बादशाह की तुलना में अंग्रेजी साहबों की धीरता और शूरता को मुईनुद्दीन ने विस्तार से दिखाया है। हाँ; इस सबके बीच उसने अपनी सक्रियता कुछ इस तरह दिखाई है कि यदि वह न होता तो अंग्रेजों का शायद ही कोई रखवाला होता (पृष्ठ- 23-32 तक)। मुईनुद्दीन ने दिल्ली में अंग्रेजी सेना के कश्मीरी दरवाजे की ओर से प्रवेश की तिथि 14 दिसम्बर, 1857 तथा दिन सोमवार लिखा है। इस प्रकरण की समाप्ति करते हुए वह लिखता है कि बादशाह बेगम जीनत महल आदि के साथ रंगून पहुँच गए और कैद रहे। (पृष्ठ-49)

प्रसंगतः मुईनुद्दीन ने विद्रोही सेना की आधारभूत दुर्बलता की ओर संकेत करते लिखा है कि ‘विद्रोहियों में पैदल हो या सवार प्रत्येक अपने को सर्वशक्तिमान समझता था (पृष्ठ-43); कहा भी गया है कि दो प्रकार के समूह नष्ट हो जाते हैं; एक वह जिसका कोई नाम नहीं’ होता और दूसरा—वह जिसमें सभी नायक होते हैं।

## कानपूर-बिदूर (ब्रह्मावर्त)

मुईनुद्दीन ने लिखा कि “भगोड़े अंग्रेजों की नौकाएँ नाना के आदेश पर पकड़ ली गईं जिनमें पचास मर्द, औरत और बच्चे थे। नाना साहब ने उन सभी की हत्या का

आदेश दे दिया।” (पृष्ठ-57)। किन्तु नाना के इस आदेश के बारे में विष्णुभट्ट ने लिखा कि नाना ने गोलन्दाज के पूछने पर कहा कि यदि नाव में स्त्रियाँ और बच्चे हैं; तो उन्हें मत मारो। गौडसे लिखता है कि किन्तु आगे जाकर नाव गंगा की रेत में फँस गई तो गोलन्दाज ने बिना नाना की स्वीकृति के उस पर गोला दागा। दस स्त्रियाँ, तीन बच्चे और चार पुरुषों को छोड़कर शेष अंग्रेज भस्म हो गए (पृष्ठ-34)। ‘ब्रह्मावर्त में आठ स्त्रियाँ और कुछ बच्चे कैद करके रखे गए। उनमें से एक मेम ने भंगिन को कुछ पैसे देकर एक पत्र प्रयाग में अंग्रेजों के पास भिजवाने की कोशिश की। भेद खुलने पर सैनिक बिगड़े और इन औरतों को मारने की आज्ञा नाना साहब से माँगी। नाना ने कहा—‘सब स्त्रियों को मार डालना उचित नहीं। केवल जिस स्त्री ने षड्यन्त्र रचा है, उसे ही गोली से उड़ा दिया जाए।’ विष्णुभट्ट लिखता है—परन्तु सिपाही कहाँ सुनते थे। तुरन्त कैदखाने में जाकर उन्होंने गोरी स्त्रियों और बच्चों की चिंदी-चिंदी उड़ा दी। इस घटना पर गौडसे ने बड़ी तीखी प्रतिक्रिया की है। (पृष्ठ-34-35)

गौडसे ने लिखा है कि ‘हिन्दुओं’ की ओर से यह बड़ा ही लज्जाजनक कार्य हुआ। मराठेशाही में ऐसा कभी न हुआ था। फिर गौडसे ने शिवाजी आदि के समय की कुछ घटनाओं का स्मरण करते हुए लिखा—‘कानपुर की इस घटना ने हिन्दुस्तान के मुख पर कालिख लगा दी। यही नहीं, उसने इस घटना को नाना साहब पर अश्वत्थामा—जिसने कुन्ती के पुत्रों की हत्या की थी; जैसा कलंग माना।’ (पृष्ठ-35)

कर्मकाण्डी ब्राह्मण जिनकी सेवा करके राजा और प्रजा सब धर्मलाभ और इस युद्ध में अपनी विजय की कामना करते थे, स्वयं उनका कैसा हाल था, गौडसे ने इसे भी रेखांकित किया है—‘कुछ कायर लोग जो पहले दान-दक्षिणा पाकर श्रीमन्त को बड़े-बड़े आशीर्वाद दिया करते थे; वे ही अब उन्हें गालिमाँ देने लगे।’ (पृष्ठ-37)

## लखनऊ

लखनऊ के बारे में मुईनुद्दीन ने लिखा कि किसी अन्य स्थान पर लखनऊ जैसा युद्ध नहीं हुआ और न ही किसी ने इतने दिनों तक सरकार का मुकाबला किया। लखनऊ का उपद्रव एक वर्ष एवं दस महीने तक रहा (पृष्ठ-78)। किन्तु लखनऊ-खास के बारे में वह यह लिखना न भूला कि “पन्द्रह दिन तक लखनऊ में यह महायुद्ध होता रहा किन्तु कोई नगरवासी किसी पक्ष की ओर से इसमें सम्मिलित नहीं हुआ” (पृष्ठ 71)। यहाँ प्रेमचन्द की कहानी शतरंज के मोहरे की वे पंक्तियाँ स्मरण हो आना स्वाभाविक है; जहाँ वाजिद अली शाह की गिरफ्तारी पर वे लिखते हैं—“शहर में न कोई हलचल थी, न मारकाट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा।..यह अहिंसा न थी...यह कायरपन था।..यह राजनीतिक अधःपतन की चरम-सीमा थी।”

गौडसे के प्रवास-वर्णन में लखनऊ की घटनाओं का केवल इतना ही उल्लेख है कि “नाना साहब लखनऊ में बेगम के पास पहुँच गए। नेपाल के शासक जंगबहादुर

पहले लखनऊ के साथ थे। बाद में; अंग्रेजों ने उन्हें धन देकर फोड़ लिया और लखनऊ पर अधिकार कर लिया।” (पृष्ठ-43)

### झाँसी, ग्वालियर, कालपी

झाँसी के बारे में मुईनुद्दीन ने जो कुछ लिखा है उसका सार यह है कि “रानी साहिबा विवश होकर विद्रोहियों के साथ हो गई (पृष्ठ-137)। आगे वह लिखता है कि कुछ भारतीय सैनिक जो अंग्रेजों के साथ मिले थे; वे निष्ठापूर्वक स्वामिभक्ति निभा रहे थे। बाद में, इनमें से दो-तीन विरोधी हो गए। किले की खिड़की चुपके से खोल दी जिससे उपद्रवी अन्दर प्रवेश कर गए। कप्तान लोडसन सहित अधिकांश अंग्रेज विद्रोहियों ने मार दिए। झाँसी अंग्रेजों से खाली हो गई। इसके बाद दो लड़ाइयाँ और हुई एक अनिर्णीत रही और दूसरी में, अंग्रेज जीते। रानी कालपी की ओर निकलीं और वहाँ तात्याटोपे तथा राव साहब के पास पहुँची गई।” (पृष्ठ-137-138)

ग्वालियर की मुख्य छावनी में संघर्ष का प्रारम्भ तात्याटोपे के वहाँ पहुँचने के साथ हुआ। शिन्दे के संरक्षण में कुछ अंग्रेज आगरा सुरक्षित निकल गए। मुईनुद्दीन लिखता है इस उपद्रव में इक्कीस बड़े अंग्रेजी अधिकारी मारे गए (पृष्ठ-121)। यह सेना तात्याटोपे के नेतृत्व में कानपुर तक गई। बाद में; तात्या कालपी चले आए। (पृष्ठ 121)। जहाँ रानी लक्ष्मीबाई उनके साथ हो गईं।

रानी और तात्याटोपे के साथ राव साहब ने फिर ग्वालियर पर अधिकार कर सिंधिया के गंगाजली खजाने पर कब्जा कर लिया। सिंधिया किसी तरह जान बचाकर अकबराबाद (आगरा) की ओर अंग्रेजों के पास चला गया। मुईनुद्दीन लिखता है कि “राव साहब यहाँ विलासपूर्वक बेखटके आराम से समय व्यतीत करने लगे...इसी प्रकार बाईस दिन तक सेना तथा ग्वालियर पर राव साहब का अधिकार रहा। तेईसवें दिन महाराज सिंधिया अंग्रेजी सेना की सहायता लेकर आ पहुँचे। (पृष्ठ-140)

रानी लक्ष्मीबाई की मृत्यु के सम्बन्ध में मुईनुद्दीन ने लिखा है—“दूसरे दिन झाँसी की रानी मोर्चा देखने के लिए घोड़े पर सवार हुईं... (शिन्दे) महाराज के अस्तबल से एक सुन्दर घोड़ा चुनकर उस पर सवार हुई थीं। घोड़ा क्या था मानों यमदूत।...अपने मोर्चे देखने के बाद अंग्रेजी मोर्चे को देखने गईं।

घोड़े को मैदान की हवा लगी, चमकने लगा। मुँहजोर था; रानी को ले भागा। यद्यपि रानी ने बहुत रोकना चाहा; पर न रुका। रानी ने चाहा कि स्वयं को घोड़े पर से गिरा दें; पर न हो सका। घोड़ा रानी साहिबा को अंग्रेजी मोर्चे में ले गया। एक गोरे सैनिक ने झपटकर एक हौल कुरच की मारी। रानी के पेट में गम्भीर घाव लग गया। रानी ने अपने शत्रु को भी तलवार से मृत्यु के घाट उतार दिया। इसके बाद घोड़े ने मुँह फेरा और अपनी सेना में वापस आ गया। (पृष्ठ-141)

मुईनुद्दीन ने यह जो घोड़े के अंग्रेजी मोर्चे में जाने, रानी के घायल होने और फिर

लौटाकर अपनी सेना में वापस आने की चमत्कारपूर्ण कथा कही है; विष्णुभट्ट गौडसे के विवरण इससे भिन्न हैं। यह कैसा संयोग है कि रानी चाहे विद्रोह में शामिल हुई; चाहे घोड़े के द्वारा अंग्रेजी मोर्चे में ले जाई गई; चाहे घोड़े के द्वारा पुनः लौटाकर अपनी सेना में लाई गई—मुईनुद्दीन ने उन्हें सर्वत्र 'विवश' ही दिखाया है। जिस रानी को गौडसे ने 'देव स्वरूपिणी स्त्री' और 'गदर वालों की सदा उत्साह और शूरता से चमकने वाली प्रत्यक्ष वीर-श्री' कहकर स्मरण किया है (पृष्ठ 101); उसके सम्बन्ध में यह कथा पूरी तरह से कल्पना से गढ़ी गई लगती है; क्योंकि विष्णुभट्ट गौडसे ने 'रानी का महाप्रयाण' 'घमासान युद्ध के मध्य हुआ' ऐसा लिखा है। (पृष्ठ-101)

मुईनुद्दीन ने ऐसी किस्साबाजी एक-दो स्थानों पर और भी की है—इनमें पहला किस्सा अब्दुल्लाह बेग का है जो रेजीमेन्ट-नं. 7 का गोरा सिपाही था और हाल ही में मुसलमान हो गया था (पृष्ठ 12-13)। मुईनुद्दीन ने मेरठ छावनी के सिपाहियों को भड़काने का श्रेय इसी अब्दुल्लाह बेग को दिया है। दूसरा किस्सा नकली मिर्जा फिरोजशाह का है जिसे मुईनुद्दीन ने मंदसौर पर आधिपत्य कर लेने वाला कहा है (पृष्ठ-123)। उल्लेखनीय है कि मिर्जा फिरोजशाह का सम्बन्ध अवध के राजपरिवार से था। सावरकर ने गंगा-यमुना को पार कर इसके द्वारा प्रचण्ड शौर्य का प्रदर्शन करने की चर्चा की है। संघर्ष विफल हो जाने पर यह देश से बाहर ईरान की ओर निकल गया। (सावरकर समग्र, खण्ड-5, पृष्ठ 431 तथा 436) मुईनुद्दीन के इस तरह के किस्सों में कितना सत्य है; कहना कठिन है।

विष्णुभट्ट गौडसे ने रानी को प्रत्यक्ष ही नहीं; अपितु निकट से भी देखा था। उनकी उदारता, धर्मनिष्ठा, जागरूकता, तेजस्विता, कुशाग्रता, न्याय-प्रियता, शूरता, निर्भीकता, प्रजावत्सलता और मनस्विता के अनेक स्मरणीय क्षणों का या तो वह स्वयं साक्षी था; या फिर उसने इनके बारे में झाँसी के लोगों के मुख से सुन रखा था। गौडसे ने रानी के सम्बन्ध में लिखा है—बाई साहब की बुद्धि बड़ी चपल थी; इसलिए तुर्त-फुर्त हकीकत समझकर भराभर हुकुम देती चलती थीं...न्याय के कामों में बड़ी दक्ष और कठोर थीं...गुणियों का बड़ा आदर करती थीं...पुस्तकों का संग्रह भी अमूल्य किया था...देश के नामी-गिरामी कारीगर अपने यहाँ रखे थे...स्वयं बड़ी निष्कपट एवं निर्मल वृत्ति की थीं, अश्व परीक्षा में अद्वितीय थीं...प्रजा की बड़ी फिकर रखती थीं...बाई साहब की शूरता की गवाही तो सारी दुनियाँ देती है...और फिर वह लिखता है कि 'ऐसी उदार, शूर, राजनीतिक स्त्री के प्रति अंग्रेज सरकार का व्यवहार बड़ा ही अन्यायपूर्ण था।' (पृष्ठ 51-57) स्पष्ट ही, रानी के इन अद्भुत गुणों पर मुईनुद्दीन की दृष्टि एक पलांश के लिए भी नहीं जा सकी।

गौडसे ने लिखा कि गदर से पहले अंग्रेज हाकिम रानी के पास संरक्षण की कामना से आए तो रानी ने दो-टूक शब्दों में उनके पुराने कृत्यों की याद दिलाते हुए कहा—“जहाँ तुम्हारा सींग समाए जाओ; मुझ से कुछ मतलब नहीं।” (पृष्ठ-58)

इसी तरह जब झाँसी को अंग्रेजों से युद्ध करते दस दिन बीत गए। राव साहब की सहायता नहीं आ पाई तो बाई साहब ने अपने सब सरदारों को इकट्ठा करके कहा—आज तक झाँसी लड़ी तो कुछ पेशवा के बल पर नहीं और आगे भी उसे किसी की मदद की जरूरत नहीं (पृष्ठ-60)। यह था रानी का परम तेजस्वी स्वरूप।

बारहवें दिन भेदियों के कारण झाँसी अंग्रेजों को मिला (पृष्ठ-67)। गौडसे ने लिखा—“फिर भी रानी पन्द्रह सौ विलायती (अर्थात् मुसलमान अरब) सैनिकों को लेकर तलवार खींचकर किले के नीचे उतरीं और कालपी चली गई।” (पृष्ठ-73) कालपी में राव साहब तात्याटोपे और रानी के साथ अंग्रेजों की घमासान लड़ाई हुई। अंत में, कालपी अंग्रेजों के हाथ रही। (पृष्ठ-84) कालपी हारने के बाद राव साहब की सेनाएँ ग्वालियर पर चढ़ दौड़ीं। लड़ाई में हारकर शिन्दे और दिनकर राव के आगे भाग जाने, तात्या और रानी का महलों तथा खजाने पर अधिकार कर लेने के वर्णन के बाद गौडसे ने लिखा कि दूसरे दिन ‘मुक्तद्वार ब्रह्मभोजन’ आरम्भ हुआ...लेकिन अठारहवें दिन ग्यारह-बारह बजे के लगभग अंग्रेजी फौज ने मुरार पर हल्ला बोल दिया (पृष्ठ 101)।

स्मरणीय है कि मुईनुद्दीन ने अंग्रेजी फौजों का ग्वालियर आना तेईसवें दिन लिखा है। (पृष्ठ-140)

### तात्या का नर्मदा-पार करना

गौडसे ने गदर की महत्त्वपूर्ण घटनाओं, तात्या टोपे और राव साहब द्वारा नर्मदा को होशंगाबाद के पास पार करने की चर्चा विशेषतः की है (पृष्ठ-106-107)। सावरकर ने भी इस घटना की चर्चा तात्या के रणकौशल की चरम उपलब्धि के रूप में की है। 17 जनवरी, 1859 के लंदन टाइम्स ने इस घटना पर जो टिप्पणी की उसे सावरकर ने उद्धृत किया है (पृष्ठ 427)। किन्तु मुईनुद्दीन इस विषय में रहस्यमय ढंग से मौन है। नर्मदा की ओर प्रस्थान से पहले गौडसे और उसके काका ने अपना रास्ता, राव साहब की सेना से अलग कर लिया था—अतः उनके द्वारा नर्मदा पार करने की घटना का वर्णन श्रुति पर आधारित है।

### छिटपुट विवरण

मुईनुद्दीन ने लखनऊ के बाद मंसूरी, नैनीताल, मुलतान, फिरोजपुर, देवगढ़, पेशावर, सियालकोट, लाहौर, जालंधर, झेलम छावनी, अम्बाला, सहारनपुर, हिसार, सिरसा, हाँसी के साथ, आरा, कलकत्ता, दानापुर, जौनपुर, आजमगढ़, हमीरपुर, बनारस, गोपीगंज, प्रयाग, फर्रुखाबाद, रामपुर, बरेली, मुरादाबाद, बुलन्दशहर, अकबराबाद, (आगरा), अलवर, नसीराबाद कैम्प, छावनी मुरार, नीमच, मंदसौर, मौ (मऊ), इन्दौर, नौगाँव, सागर, हाडौती, कोटा, बूँदी, अजयगढ़, बाँदा, टोंक, और नाथद्वारा की घटनाओं

का संक्षिप्त विवरण दिया है।

इन विवरणों में मुईनुद्दीन की एक उल्लेखनीय टिप्पणी मुरार छावनी के प्रसंग में आई है। उसी के शब्द हैं—“जिस रेजीमेंट में पूर्वी हिन्दू ब्राह्मण अधिक थे उसमें बहुत जल्दी उपद्रव हो गया। जिस रेजीमेंट में हिन्दू-मुसलमान बराबर थे उसमें देर से उपद्रव हुआ और जिसमें मुसलमान अधिक थे; वह उपद्रव से बच गई। (पृष्ठ-119) वस्तुतः मुईनुद्दीन इस बात से दुखी थे कि सरकार मुसलमानों को ही अतिवादी एवं उपद्रवी समझकर उन्हें दण्ड देने पर अधिक बल देने लगी थी। अठारह सौ सत्तावन में हिन्दू-मुसलमान कितने निकट थे इसे जरा सावरकर के शब्दों में देखें—“हिन्दू और मुसलमानों के बीच का परायापन तथा विजित-विजेता भाव नामशेष होकर उनमें आपसी बन्धुत्व भाव इन्हीं दिनों प्रकट हुआ (वही, पृष्ठ 106)। मुईनुद्दीन के लिए इस निकटता का कोई अर्थ न था।

### अठारह सौ सत्तावन का समापन

मुईनुद्दीन ने लिखा है कि राजा नटवर सिंह के पुत्र भोरजी ने धोखे से तात्या टोपे को बन्दी बना अंग्रेजों को सौंप दिया। अंग्रेजों ने तात्या को ग्वालियर के पास रूपेरी में फाँसी दे दी (पृष्ठ-147)। किन्तु सावरकर ने तात्या की गिरफ्तारी में ग्वालियर के एक दरबारी मान सिंह को जिम्मेदार माना है। सावरकर ने तात्या को शिवपुरी में फाँसी दिए जाने का भी उल्लेख किया है (पृष्ठ-435)।

इसी तरह, मुईनुद्दीन के अनुसार राव साहब साधूवेश में लाहौर तक पहुँचे। जहाँ उनके रसोइये ने धन के लालच में उन्हें पकड़वा दिया। कानपुर में उन्हें फाँसी दी गई। इस विवरण के उपरान्त उसने लिखा—‘यह सब कहानी गदर की पूरी हुई। गदर का भूचाल एक साल दस महीने रहा।’

अंत में, कुछ बातें और। विष्णुभट्ट गौडसे ने माँझा प्रवास में भारत की प्राकृतिक छटाओं के अनेक दृश्य अंकित किए हैं। इसी तरह, देव मन्दिरों, तीर्थ स्थलों, नगरों और अंग्रेजों द्वारा किए गए विनाश के अनेक सजीव चित्र उसकी पुस्तक में ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे माँझा-प्रवास ‘खदंगे-गदर’ से भिन्न स्वरूप ग्रहण किए हुए हैं।

अनुवाद की दृष्टि से माँझा प्रवास की भाषा अधिक प्रांजल है; जबकि ‘खदंगे-गदर’ में भाषा-सम्बन्धी अनेक दुर्बलताएँ अनुवाद में रही हैं। अनुवादक ने स्थानों के नामों की वर्तनी पर अनेक जगह ध्यान नहीं दिया है। अन्यथा टोंक को टॉनक, नीमच को नमुच आदि नहीं लिखा गया होता।

मुईनुद्दीन ने विद्रोही सैनिकों या सेनानायकों के गुणों की प्रशंसा प्रायः नहीं की है। वह उन्हें प्रायः नमकहराम, लुटेरे, आतंकी आदि कहता है। किन्तु विष्णुभट्ट गौडसे ने स्त्रियों को न मारने के लिए गोरों की खुले मन से प्रशंसा की है। यह गौडसे के चरित्र की अपनी विशेषता है।

सत्तावन के साल के इस गदर के लाभालाभ को लेकर की गई गौडसे की यह टिप्पणी भी एकदम सटीक है—“गदर से अंग्रेजों की जरा-सी भी हानि न होकर उल्टे लाभ ही हुए...जय अंग्रेज सरकार की हुई। इतना ही नहीं; उन्होंने दिल्ली, लखनऊ, बिठूर, चित्रकूट आदि स्थानों से लाखों रुपया और हिन्दुस्तान के अनेक प्राचीन खजानों से अरबों के हीरे, मानिक, मोती लूट ले जाकर विलायत की लंका बना ली। (पृष्ठ-43)

‘इस प्रकार, कहा जा सकता है कि अठारह सौ सत्तावन के संग्राम की घटनाओं के वर्णन से लेकर मूल्यांकन तक इन दोनों लेखकों के व्यक्तित्व की गहरी छाप अपनी-अपनी पुस्तकों पर पड़ी है।

## मूर्तिभंजक मूर्तिपूजकों के विरुद्ध\*

रमेशचंद्र शाह\*\*

हिन्दी आलोचना के वर्तमान परिदृश्य में नन्दकिशोर आचार्य उन बहुत थोड़े से लोगों में हैं जिनसे इस दौर के ही नहीं, पिछले दौरों के लेखक भी सचमुच सह-अनुभूतिपूर्वक समझे जाने और यथोचित न्याय पाने की उम्मीद कर सकते हैं। खुली संवेदना और खुली दृष्टि की बात करना तो आसान है, लेकिन अपने व्यवहार में उसे चरितार्थ कर पाना कठिन है। अपने सोच-विचार में ही नहीं, रीझ-बूझ में भी हम किन्हीं चेतन-अचेतन पूर्वग्रहों से परिचालित हो सकते हैं; इतना ही नहीं; अंततः कितनी ही व्यापक संवेदना हो कितनी ही बहुलता-स्वीकारी विचार-शक्ति हो, उसकी भी एक सीमा होती है। यह भी तो है ही कि हम सभी न केवल अपनी निजी चेतना के बन्दी होते हैं, बल्कि अपने युग के भी। आलोचक चाहे वह विशुद्ध आलोचक का ही स्वधर्म निबाहने वाला हो, चाहे, आलोचना के अलावा रचना की दुनिया में भी हस्तक्षेप करने वाला हो— दोनों ही स्थितियों में वह मात्र एक निस्संग दृष्टा या वर्णनकर्ता भर बने रहकर संतुष्ट नहीं हो सकता। जीवन-लोक में उसकी अपनी अवस्थिति—जहाँ से वह जीवन और जीवन की किसी पुनर्रचना (या आलोचना) को जाँच या आँक रहा है—उसके बारे में भी उसका आत्म-चेतन होना आवश्यक है। इस जरूरी आत्मचेतना या आत्मालोचना का नितान्त अभाव आज के ज्यादातर आलोचनात्मक लेखन को मात्र खण्डन-मण्डन, मात्र विज्ञापन या 'कैन्वेसिंग' में घटाए दे रहा है।

नन्दकिशोर साहित्य की स्वायत्त प्रक्रिया और गरिमा के प्रति भी उतने ही आग्रही और सचेत हैं, जितने उसके सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य को लेकर। दोनों के बीच संतुलन बनाए रखना उनके लिए सहज-स्वाभाविक धर्म है, उसे वे पिछले कई दशकों से निभाते रह सके हैं। उनकी आलोचना का सैद्धान्तिक पक्ष भी उतना ही खरा है, जितना उसका व्यावहारिक पक्ष। पुस्तक-समीक्षा को इतनी गम्भीरतापूर्वक लेने वाले आलोचक विरले ही होते हैं। ऐसे हर अवसर का उपयोग वे अपनी आलोचना के

\* प्रवक्ता (अंग्रेजी विभाग), राजकीय महाविद्यालय बोमडिला, अरुणाचल प्रदेश (भारत) 790001

\*\* जाने माने, चिन्तक, लेखक, समीक्षक।



औजारों को चमकाने के लिए करते हैं। उसे निरन्तर प्रासंगिक, और धारदार बनाए रखने के लिए। निश्चय ही अपनी जीवनव्यापी शब्दचर्या के माध्यम से यह लेखक एक विशिष्ट जीवन-दर्शन और विचार-चौखटे को भी अपने लिए उपलब्ध और प्रयोज्य बनाता चलता रहा है जैसाकि उसकी इस पुस्तक से भी स्पष्ट हो जाता है। तब फिर यही मानना पड़ेगा कि यह जीवन-दृष्टि और विचार-दृष्टि ही इतनी तत्त्वपूर्ण और समावेशी है कि उसके अन्तर्गत अलग-अलग और परस्पर विरोधी विचार-दृष्टियों से प्रेरित लेखन के साथ भी न्यायसंगत आचरण करना सर्वथा संभव है। कहने की जरूरत नहीं, कि दूसरी अनेक विचारधाराओं की पक्षाग्रही आलोचना में ऐसा न्याय न केवल संभव नहीं होता, बल्कि दुर्व्याख्या और दुरभिसन्धि के लिए वह तथा-कथित पक्षधर आलोचना मानो जन्मना अभिशप्त हो जाती है। पुस्तकों के नामकरण से ही आचार्य की 'दृष्टि' का पर्याप्त अनुमान लगाया जा सकता है। यथा, 'संस्कृति की सामाजिकी', 'सत्याग्रह की संस्कृति'... और स्वयं यह 'साहित्य का अध्यात्म'। संस्कृति, समाज, सत्याग्रह और आध्यात्मिक कॉमनसेंस से की चौखम्भा इमारत है नन्दकिशोर आचार्य की आलोचना।

परन्तु यहाँ पर यह देखना और कह देना भी आवश्यक है कि इस साहित्यालोचन का अपनी कमाई हुई नैष्ठिक विचार के साथ भी जो सम्बन्ध बनता है, वह साहित्य की स्वायत्त संस्कृति और रचनागत अनुशासन की ही शर्तों पर बनता है। नन्दकिशोर आचार्य का साहित्यालोचन किसी भी विचार धारा का गरीब रिश्तेदार नहीं है : वह कृति को कृति की तरह यानी एक निर्मित की तरह पहले देखता है; उस बारे में अपनी आश्वस्ति को गुणज्ञ आस्वादक की भूमिका निबाहते हुए सुनिश्चित कर लेने और पाठक को भी इस आस्वाद में भरसक साझीदार बना चुकने के उपरान्त ही वह कृतियों के वैचारिक अनुषंगों की जाँच-पड़ताल में प्रदत्त होता है। साहित्य को सत्य के अनुभूतिमूलक अन्वेषण की एक स्वायत्त प्रक्रिया माननेवाले नन्दकिशोर आचार्य के लिए अनेकानेक तथाकथित सामाजिक यथार्थवादियों की तरह यह मानकर चलना कदापि संभव नहीं है कि मीरा अथवा कबीर की आध्यात्मिक संवेदना किसी सामाजिक विद्रोह का मुखौटा मात्र है। उन्हीं के शब्दों में, "मीरा का विद्रोह उस पल नैतिकता की प्रतिष्ठा के लिए किया जाने वाला विद्रोह है—जो सभी प्रकार की नैतिकता का स्रोत है—अर्थात् जिसका उत्स उनकी आध्यात्मिक अनुभूति में है।"

किसी भी आलोचक के सामने दो तरह के साहित्यिक नमूने टकराते हैं : एक तो वे, जिनसे उसकी संवेदनात्मक और वैचारिक पटरी बैठती है; और, दूसरे वे, जिनसे पटरी नहीं बैठती; किन्तु जैसे जीवन में, वैसे ही साहित्य में भी हम जहाँ एक ओर सहज खिंचाव पैदा करने वाली चीजों से सम्मुखित होते हैं, वैसे ही विरण-विकर्षण या औदासीन्य, उपजाने वाली चीजों से भी। परन्तु हमारी जिंदादिली और बौद्धिक कुतूहली वृत्ति हमें उसे भी समझने और स्वायत्त करने को उकसाती है, जो हमारी स्वाभाविक रुचि के दायरे में नहीं आता। नन्दकिशोर की कल्पनाप्रवण सहानुभूति जिस तरह अज्ञेय,

निर्मल वर्मा या रघुवीर सहाय से उत्तेजित हो सकती थी', वैसी सुधीर कक्कड़ या सूरदास से नहीं। किन्तु, इस पुस्तक में हम देखते हैं, वे नापसंद या कम पसन्द को भी अपनी समझ और संवेदना के लिए एक चुनौती की तरह स्वीकारते हैं और न केवल न्यायकारी, बल्कि स्वयं उनकी इसी तरह की आलोचना को देखते हुए काफी कुछ नई संभावनाओं वाली दिशाएं भी खोजने का उपक्रम करते नजर आते हैं। अब, जैसे रघुवीर सहाय की 'सहज मानवीयता का अन्वेषण' जो उन्होंने इस पुस्तक के एक लेख में किया है, वह युक्तियुक्त है; किन्तु हमारे लिए यानी उनके लेखन से परिचित पाठक के लिए अपूर्वानुमेय या नया नहीं। इसी तरह निर्मल वर्मा वाले लेख में 'अकेलेपन से मुक्ति की तलाश' वाला सूत्र निस्सन्देह विचारोत्तेजक है। किन्तु उसके पूरे पल्लवन के लिए जो अवकाश अपेक्षित था, वह उसे नहीं मिलता। निर्मल वर्मा के चिन्तन में इस प्रतीति को रेखांकित करना, कि "हम इतिहास के उपनिवेश नहीं, वह मुक्त चेतना हैं जो सम्पूर्ण का (ऋत का) अंश होने में ही अपनी मुक्ति का अनुभव करती है"—निश्चय ही पते की बात है। मगर फिर इससे आगे बढ़कर स्मृति और सृजनानुभव के सम्बन्ध को, तथा स्वयं स्मृति और 'स्मृति' के ('नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' वाली स्मृति) के सम्बन्ध की मीमांसा में गहरे उतरने के लिए जिस धैर्य और अवकाश की आवश्यकता पड़ती, वह इस संक्षिप्त लेख में नन्दकिशोर नहीं जुटा पाते और 'अनुभव इतिहास संभव है और स्मृति संस्कृति सम्भवा...' सरीखी आपातरम्य, किन्तु अपरीक्षित अविवेचित सूक्तियाँ ही टाँककर रह जाते हैं। इस प्रकार न्यायकारी होते हुए भी यह समीक्षा हमारे लिए नया मर्म उद्घाटित करने वाली, अपूर्वानुमेय आलोचना का उदाहरण नहीं बन पाती। उस तरह, जिस तरह कि जैनेन्द्र के 'विचारक' पक्ष को उभासे वाला लेख बन सका है। यहाँ तक, कि जैनेन्द्र की 'श्रद्धा का पुनरन्वेषण' (पुनरान्वेषण नहीं, जैसा लिखा और छापा गया) भी पाठक को सुखद विस्मय उपजाने वाला लगेगा क्योंकि यह आचार्य की आलोचना में सचमुच एक नयी समझ के या नयी बात के जुड़ने का द्योतक है।

जैनेन्द्र की ही तरह मुक्तिबोध भी नन्दकिशोर आचार्य के आलोचक को अपने में रमाने-उलझाने वाले लेखक पहले उस तरह नहीं थे। किन्तु इस पुस्तक में 'मुक्तिबोध की उलझन' नामक जो लेख उन्होंने इस लेखक पर निछावर किया है, वह वास्तव में प्रमाणपुष्ट और प्रत्ययोत्पादक विमर्श बन गया है। यह कह सकने के लिए कलेजा चाहिए और दिमाग भी, जो नन्दकिशोर अपने विश्लेषण के बाद निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित शब्दों में कह सके हैं। यह अवतरण हिन्दी के अनेकानेक मार्क्सवादी रेहटरिक छाँटने वालों को चुनौती की तरह प्रस्तुत हुआ है।

"कहना न होगा कि स्वयं मुक्तिबोध भी अपने साहित्य-चिन्तन में विश्व दृष्टि के उल्लेख से जब एक विचारधारा या दृष्टि-विशेष का आग्रह करते हैं तो वह एक कलाकार या कला-दार्शनिक का नहीं, बल्कि एक राजनीतिकर्मी अथवा समाज-शास्त्री का आग्रह है। राजनीति या समाज शास्त्र की अपनी भिन्न प्रक्रियाएँ और मूल्यांकन के नियम हैं और उनकी परख उसी आधार पर होनी चाहिए। उन्हें साहित्य की कसौटी के

रूप में नहीं माना जा सकता।...”

यहाँ पर नन्दकिशोर यदि चाहते तो मुक्तिबोध की दो प्रसिद्ध सूक्तियों को भी उनकी इसी स्थापना की बगल में बिठाकर उनका भी जायज़ा ले सकते थे जो उन्होंने नहीं लिया। वे दो सूक्तियाँ यँ हैं—एक : ‘पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है ?’...और दूसरी : ‘साहित्यकार पर जरूरत से ज्यादा भरोसा करना मूर्खता है’। वे पूछ सकते थे कि साहित्यकार पर ही क्यों ?... किसी समाजशास्त्री या धर्माचार्य या राजनीतिकर्मी पर भी वैसा ही भरोसा करना क्यों मूर्खतापूर्ण नहीं होगा ? इत्यादि...इत्यादि...।

नन्दकिशोर जी व्याख्यान नाम की विधा को भी गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करते हैं। बल्कि एक ठोस नैमित्तिक उत्तेजना सुलभ करते हुए ये व्याख्यान अक्सर उनके आलोचकत्व पर सान चढ़ाते जान पड़ते हैं। ‘इतिहास का काव्यान्तर’ में वे ऐसी ही गम्भीर विचार-प्रक्रिया में उतर के इस सही नतीजे पर पहुँचते हैं कि “समकालीनता के अतिरेकपूर्ण आग्रह के चलते हम अपनी साहित्यिक परम्परा को रसानुभूति की प्रक्रिया नहीं, केवल अध्ययन की वस्तु मानने लगे हैं।” ऐसा ही रोचक व्याख्यान इस पुस्तक का पहला व्याख्यान भी है जो इस प्रतिपादन की ओर ले जाता है कि “मनुष्य सारतः एक स्वतन्त्र चेतना है जो काल के बन्धन को भी स्वीकार करना नहीं चाहती।” ‘आसन्न चुनौतियाँ और काव्य’ शीर्षक अगला व्याख्यान भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है : इस कारण भी, कि यह नये से नये ज्ञान को स्वायत्त करने की और मानव-मुक्ति, मानव की अपनी सर्वोच्च संभावना तक विकसित हो सकने की अर्हता को लेकर इस आलोचक की जो बुनियादी निष्ठा और तत्समकक्षी तैयारी है, उसका भी पर्याप्त अभ्यास करा देता है। शायद ही कोई होगा—हिन्दी की वर्तमान आलोचना में, जो इतने धड़ल्ले से, और इतने ‘एंगेज्ड’ आत्मविश्वास के साथ एक तरफ वाल्टर बेन्यामिन सरीखे विचारक को, और दूसरी तरफ श्रीअरविन्द सरीखे योगी-विचारक को नितांत अपनी स्वतन्त्र प्रगतिशील-मानव मुक्तिकामी विचार-तर्कणा के रथ में जोत सके। न केवल जोत सके, बल्कि रथ को सचमुच सरपट हाँक भी सके।

यह तथा ‘लौकिक का अध्यात्म’ सरीखे लेख नन्दकिशोर आचार्य की आलोचना के अधिकाधिक प्रौढ़ होते जाने का आश्वासन प्रदान करते जान पड़ते हैं। हाँ सुधीर कक्कड़ के उपन्यास की समीक्षा चुस्त-दुरुस्त होते हुए भी पर्याप्त निर्मम नहीं लगती। ‘फलाँ चीज़ को केन्द्र में रखा होता तो यह उपन्यास एक उपलब्धि हो सकता था’... इस तरह के वाक्यों से किसी भी प्रतिभाशाली साहित्य-विचारक को परहेज करना चाहिए। इस ‘काश’ वादी सदाशयता का साहित्यालोचन से बहिष्कार ही इष्ट है। बेहतर होता यदि नन्दकिशोर जी स्वयं ‘मीरा के नाम बापू के पत्र’ अथवा मीराबेन की आत्मकथा की सघन समीक्षा में प्रवृत्त होते, कक्कड़ को बीच में न लाते। पाठक अगर स्वयं उपन्यासकार हैं, तो वह इस समीक्षा को पढ़कर इस अवान्तर खीझ में भी भटक सकता है कि ‘अरे यह कक्कड़ कहाँ से आ गया ? यह उपन्यास तो मैं लिखना चाहता था!’... द्वन्द्व का

सगुण-निर्गुण के मानवीय आलंबनों के बीच ही है? सत्याग्रह की राजनीति और संगीत के बीच-गाँधी और बीथोवन (बीटोफेन) के बीच भी नहीं है? तीस बरस बाद जब मीरा अपना सन्दूक खोलती है और बीटोफेन के रिकॉर्ड देखती है, तो उस पर क्या गुज़रती है, क्या गुज़री होगी—यह आँकना क्या किसी साइको-एनेलिस्ट के बूते का है? आखिर क्यों उसने वहीं लौटना चुना? बहरहाल.....।

नन्दकिशोर चूँकि नाटक विधा के 'इनसाइडर' हैं, इसलिए नाटक पर जो भी सामग्री इस पुस्तक में विन्यस्त हुई है, बहुत रोचक और सार्थक है। हिन्दी के नाट्य-समीक्षकों के लिए विशेष रूप से मननीय।

हाँ, यदि मुझसे इस किताब के किसी एक ही लेख को पढ़ने की सिफ़ारिश करने को कहा जाए, कि भइया मेरे पास समय नहीं है—बस एक लेख जो इसमें सर्वोत्तम लगा हो, वह बता दें—उतना ही पढ़ सकता हूँ—ऐसा कोई मुझसे कहेगा तो मैं जिस लेख का नाम लूँगा—वह होगा 'अज्ञेय की सामाजिकी'। क्या यह महज़ इस संयोग के चलते, कि मैंने इसे व्याख्यान के रूप में यहीं भोपाल में सुना था और तभी इसने बड़ी तगड़ी छाप मेरे दिमाग पर डाली थी? शायद ऐसा ही हो। पर इस लेख की विशेषता यह है कि अज्ञेय पर नन्दकिशोर आचार्य ने अभी तक जो कुछ लिखा था—उसमें यह लेख कुछ नया जोड़ता है; याकि दूसरे शब्दों में, जो कुछ यह आलोचक अज्ञेय के चिन्तन को लेकर पहले ही सुना चुका है, उसे यहाँ वह ज्यादा विविक्त और आज के 'साहित्य की सामाजिकता' को लेकर जो विचारधाराई आग्रह जड़ीभूत होकर हिन्दी साहित्य की खास अपनी पहचान को—सात्विक कठोरता की उसकी अपनी समग्र भाव-धारा को एक दलदल में परिणत करने का अभियान चलाए हुए हैं—उसे इसके ठोस परिदृश्य में—परिस्थिति और संस्कृति के संतुलन को साधने वाले साहित्य की कॉमनसेंस पर ही परप्रत्यमनेय और परोपजीवी बुद्धि से जो कुठाराघात किए जा रहे हैं उनकी यथातथ्य अवगति से और उसके यथोचित उपचार की दिशा में जो किया जाना अपेक्षित है एक सच्चे साहित्यालोचक से—उस अपने कर्तव्य से प्रेरित होकर—यानी, अपने कालज्ञ विवेक से परिचालित होकर ही नन्दकिशोर आचार्य का आलोचक अज्ञेय के कृतित्व की जानी-समझी दुर्व्याख्या के विरुद्ध एक सर्वथा साम्प्रतिक और स्वयं अज्ञेय के कृतित्व के अन्तःप्रमाण से पुष्ट हस्तक्षेप कर रहा है—अज्ञेय की तथाकथित व्यक्तिवादिता या संस्कृतिबद्धता (तथा-कथित) के विरुद्ध अज्ञेय की सामाजिकी को रेखांकित करते हुए।

यह रेखांकन कितना तर्कसंगत और सामयिक है, इसे तो पूरे लेख को सावधानीपूर्वक पढ़ने के बाद ही पाठक तय करेगा। यहाँ लेख के उपशीर्षक में जो संकेत रूप से किन्तु स्पष्टतः प्रदिपादित है, उसी के बारे में यह कह देना पर्याप्त होगा कि सामाजिकता को अज्ञेय-साहित्य के सर्वाधिक मूल्यवान् 'मूल्य' 'स्वाधीनता' का ही विस्तार घोषित करके और उस घोषणा को बाकायदा अपने प्रखर आलोचनात्मक विवेक से अभिनीत करके इस लेखक ने समकालीन हिन्दी साहित्य का उपकार किया है। इसके लिए वह निस्सन्देह सराहना और साधुवाद का पात्र ठहरता है।

## भारत की सनातन सांस्कृतिक निरन्तरता<sup>+</sup>

महेश दुबे\*

इतिहास कहता है, कब्र के इस तरफ  
उम्मीद मत करो  
लेकिन फिर  
जिंदगी में एक बार  
न्याय के लिए आकांक्षित उत्ताल तरंग  
ऊँची उठ सकती है इतनी कि  
उम्मीद और इतिहास में तुक बैठ जाए।

—शीमसहीनी (आयरिश कवि)

इतिहास और उम्मीद में जब ठीक-ठीक और तार्किक जुगलबन्दी जम जाती है तब 'ऋग्वेद हड़प्पा सभ्यता और सांस्कृतिक निरन्तरता' जैसी कृति लिखी जाती है। डॉ. कृपाशंकर सिंह की यह रचना जितनी विचारोत्तेजक और तथ्यपरक है उतनी ही पठनीय और रोचक है। 376 पृष्ठों में फैली और 18 अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक की प्रस्तुति और व्याख्याएँ अत्यन्त व्यवस्थित और वैचारिक पूर्वाग्रह से मुक्त हैं। लेखक की उदात्त कल्पनाशीलता में शैक्षणिक आग्रह के लिए प्रतिबद्धता, ऐतिहासिक दृष्टि और सृजनात्मक बोध स्पष्ट दिखाई देता है। पुस्तक में ऋग्वेद और हड़प्पा संस्कृति से जुड़ी प्रायः सभी महत्वपूर्ण समस्याओं पर विस्तार से चर्चा की गई है।

लेखक की केन्द्रीय स्थापना है कि ऋग्वेदीय संस्कृति, हड़प्पा सभ्यता (3000 ई.पू.) से कम-से-कम डेढ़ सहस्र वर्ष पहले अस्तित्व में थी और उपलब्ध पुरातात्विक साक्ष्य दोनों के मध्य सांस्कृतिक निरन्तरता को प्रमाणित करते हैं। संस्कृति की यही सनातन सातत्यता वर्तमान हिन्दू समाज का मूल स्वर है।

ऋग्वेद भारत के सांस्कृतिक जीवन की महाकाव्यात्मक गाथा है, जिसमें जातीय

\* प्रो. महेश दुबे, R-36, महालक्ष्मी नगर, बॉम्बे हॉस्पिटल के पास, इन्दौर-452010 (म.प्र.)

+ पुस्तक : 'ऋग्वेद, हड़प्पा सभ्यता और सांस्कृतिक निरन्तरता', लेखक : कृपाशंकर सिंह, प्रकाशक : किताब घर, 24 असारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-110002; वर्ष : 2007, मूल्य-495/-, पेपर बैक-240/

स्मृतियाँ, मिथक, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, राजनीति, सामाजिक दर्शन, अध्यात्म और काव्य जैसे अनेक अनुशासनों का विन्यास है। इसका भव्य स्थापत्य इसे एक अद्भुत ऐतिहासिक विशिष्टता प्रदान करता है। सही मायने में ऋग्वेद समग्र भारतीय जीवन की सम्पूर्ण वर्णमाला है। डॉ. सिंह ने प्राक्कथन में इसे अदम्य जिजीविषा और जीवन-दर्शन का ग्रन्थ कहा है। ज्ञानेश्वरी की ये पंक्तियाँ ऋग्वेद के लिए सटीक हैं—

वाचे वरवें कवित्व  
कवित्वे वरवें रसिकत्व  
रसिकत्वी परतत्त्व/स्पर्शु जैसा

(ज्ञानेश्वरी 18/347)

अर्थात् : एक तो पहले ही मधुर वाणी हो, तिस पर उसमें कवित्व का योग हो और उस कवित्व को रसिकता का संगति प्राप्त हो और उस रसिकता में तत्त्व की लालसा हो तो वह कितना उत्तम होता है।

डॉ. सिंह ने अपनी इस पुस्तक में ऋग्वेद से जुड़े अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

सबसे पहले अध्याय में लेखक ने 'आर्य-आक्रमण का मिथक' शीर्षक से औपनिवेशिक विद्वत् मानसिकता द्वारा स्थापित आर्य-आक्रमण के सिद्धान्त पर विस्तार से चर्चा की है। विलियम जोन्स, मैक्समूलर, आर्थर कीथ, मार्शल आदि विद्वानों ने अपने निष्कर्षों से इस धारणा को पुष्ट किया कि भारत जैसे पिछड़े और पराधीन देश से सभ्यता पश्चिम की ओर नहीं जा सकती। ये सब विद्वान-संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषाओं की जननी के रूप में किसी आद्य-यूरोपीय भाषा की परिकल्पना को आगे बढ़ाते रहे। यहाँ लेखक की वेदना यह है कि आद्य-भाषा और सभ्यता का स्थान भारत भी हो सकता है—इस तथ्य पर विचार ही नहीं किया गया। इन्हीं का अनुसरण करते हुए भारतीय इतिहासकारों ने भी यही माना कि—

- ऋग्वेद की रचना 1200 ई. पू. से पहले नहीं हुई।
- हड़प्पा-सभ्यता उसके पूर्व की है और उसके मूल निवासी द्रविड़ थे।
- आर्यों ने आक्रमण से इस सभ्यता का विनाश किया और द्रविड़ों को दक्षिण की ओर भगाया।

डॉ. सिंह के अनुसार इन स्थापनाओं से अंग्रेजी सत्ता और ब्रिटिश अधिकार को तार्किक आधार मिलता था। वे लिखते हैं कि अंग्रेज मिशनरी और इतिहासकार इस देश के लोगों को बार-बार यह समझा रहे थे कि आर्यों की तरह अंग्रेज भी भारत में आकर सभ्यता और संस्कृति के नए युग को ला रहे हैं।

पर विगत कुछ वर्षों के उत्खननों और अध्ययनों से अब पूरा परिदृश्य बदल गया है। दरअसल आर्य-आक्रमण का सिद्धान्त इतना प्रभावशाली था कि बरसों तक अन्य

किसी प्रारूप पर विचार ही नहीं किया गया। साठ के दशक में—पॉशेल, डलेस, रेक्स, फेयरसर्विस जैसे पुरातत्ववेत्ता एवम् वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों से इस मिथक को नकारते हुए अन्य वैकल्पिक सिद्धान्तों का मार्ग प्रशस्त किया। ग्रेगरी एल पॉशेल (वाशिंगटन स्टेट यूनिवर्सिटी) ने 1967 में आर्य आक्रमण को नकारते हुए हड़प्पा-सभ्यता के उद्गम के आन्तरिक स्रोतों की ओर इंगित किया था। इसी प्रकार जार्ज एफ. डलेस ने 1966 में प्रकाशित अपने एक शोध-आलेख में टी.एस. इलियट के शब्दों का उपयोग करते हुए लिखा था : 'Harappans, to borrow a figure of speech from T.S. Eliot, met their end not with an Aryan bang but with an Indus expatriate whimper.' अभी 2003 में केलीफोर्निया स्टेट यूनिवर्सिटी, लांग बीच में 'द राइज ऑफ सिविलाइजेशन इन द ग्रेटर इण्डस वैली एण्ड सरस्वती : रीसेन्ट इन्टरप्रिटेशन' पर केन्द्रित संगोष्ठी में एकत्र इतिहासकारों ने आर्य-आक्रमण के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए इस तथ्य को एकमत से स्वीकार किया कि वैदिक और हड़प्पा-सभ्यताएँ एक ही हैं और उनमें सांस्कृतिक निरन्तरता विद्यमान है। इस परिप्रेक्ष्य में इन सन्दर्भों का उल्लेख अधिक प्रासंगिक और महत्वपूर्ण होता। यह उल्लेख भी किया जाना चाहिए था कि सिन्धु-सभ्यता के विनाश के लिए भूगर्भीय कारणों का सिद्धान्त सबसे पहले एम.आर. साहनी ने 1956 में प्रस्तुत किया था।

दूसरे अध्याय में हड़प्पा-सभ्यता के विस्तार और विशेषताओं की चर्चा के साथ वैदिक संस्कृति से उसके साम्य और दोनों की सांस्कृतिक निरन्तरता की विवेचना की गई है। यहाँ डॉ. सिंह-मोर्टिमर ह्वीलर, सर जान मार्शल, रोमिला थापर और रामशरण शर्मा के निष्कर्षों को उद्धृत करते हुए उनके वैचारिक दुराग्रह को भी स्पष्ट करते हैं। इन विद्वानों ने हड़प्पा में अश्व और अरावाले पहियों की अनुपस्थिति के साक्ष्य के आधार पर दोनों सभ्यताओं को अलग-अलग माना है। लेखक ने सप्रमाण इन दोनों आरोपों को खारिज करते हुए कहा है कि ये वास्तविक कारण नहीं हैं। लेखक का मानना है कि वस्तुतः हड़प्पा के निवासी या वैदिक आर्य ही सर्व-प्रथम घोड़ों को पालने और प्रशिक्षित करने वाले लोग थे। भगवान सिंह अपनी पुस्तक हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य में लिखते हैं : "वैदिक जन घोड़ों से परिचित थे, पर उसी रूप में और उस सीमा तक जितना हड़प्पावासी घोड़े से परिचित थे और इस दृष्टि से दोनों में कोई भिन्नता नहीं पाई जाती।" कालीबंगा, राखीगढ़ी आदि स्थानों में खुदाई से प्राप्त मिट्टी के पहियों की उपस्थिति से यह सिद्ध होता है कि हड़प्पा-सभ्यता के लोग अरावाले पहियों का बखूबी उपयोग करते थे। इस अध्याय में लेखक का निष्कर्ष है कि—'वास्तव में वैदिक आर्य संस्कृति और हड़प्पा सभ्यता एक ही सांस्कृतिक निरन्तरता के दो पक्ष हैं।'

कालीबंगा व अन्य दूसरे स्थानों पर अवशेषों के आधार पर लेखक ने त्रि-स्तरीय हड़प्पाकालीन समाज का अनुमान किया है—जो उच्च, मध्यम और निम्न वर्ग में विभक्त रहा होगा। ऋग्वेद में भूमि को सावधानीपूर्वक नापे जाने के उल्लेखों से डॉ.

सिंह निष्कर्ष निकालते हैं कि इसका तात्पर्य है कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था— अर्थात् सामूहिक खेती नहीं होती थी। लेखक ने रामविलास शर्मा, मेक्डॉनल और कीथ के माध्यम से वैदिक समाज के आदिम साम्यवादी प्रारूप का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि हड़प्पा-सभ्यता का समाज, ऋग्वेदीय समाज के अनुरूप एक पूँजीवादी व्यवस्था का समाज था। ये सभी निष्कर्ष समाज-वैज्ञानिकी अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। लोथल और कालीबंगा से प्राप्त मानव-खोपड़ियों के अध्ययन से लेखक ने यह अनुमान लगाया है कि हड़प्पा-निवासी खोपड़ी की शल्य-चिकित्सीय प्रविधियों से परिचित थे। इसी सन्दर्भ में अन्य वैज्ञानिक उपलब्धियों एवम् जानकारियों की चर्चा भी की जा सकती थी। लेखक के अनुसार ऋग्वेद में लेखन से जुड़े और लिपि की उपस्थिति के संकेत हैं। पर हड़प्पा लिपि के अब तक न पढ़े जाने के प्रश्न पर सांस्कृतिक निरन्तरता में अन्तर्निहित क्रम-बद्धता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि—‘हड़प्पायुगीन भाषिक परम्पराओं के खण्डित और उस समाज के नष्ट हो जाने के कारण उस लिपि का पुनः वाचन सम्भव नहीं है।’

प्रसंगवश इस अध्याय में यह उल्लेख भी किया जा सकता था कि 1920 की खुदाई के पूर्व भी हड़प्पा का उल्लेख किया जाता रहा है। जार्ज मेसॉन नामक यात्री ने 1826 की अपनी पश्चिम भारत की यात्रा के 1844 में लन्दन से प्रकाशित विवरण में हड़प्पा और सिन्धु घाटी की सभ्यता का प्रारम्भिक उल्लेख किया था। 1831 में अलेक्जेंडर बर्न्स नामक अंग्रेज ने यहाँ की यात्रा की और 1834 में प्रकाशित अपने विवरणों में नदी के किनारे दुर्ग के भग्नावशेषों का उल्लेख किया। कनिंघम ने अपनी यात्राओं की रपट *आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया* के प्रतिवेदन में (1872-73) प्रकाशित की। पर सर जान मार्शल के मार्गदर्शन में दयाराम साहनी और राखालदास बनर्जी द्वारा किए गए खुदाई-कार्यों से एक पूरी-की-पूरी विकसित सभ्यता की कहानी प्रकाश में आई।

तीसरे अध्याय में लेखक ने ऋग्वेद के आर्यजनों एवम् दस्युओं का वर्णन किया है। ऋग्वेदीय समाज में पाँच प्रमुख आर्य-जन थे—पुरु, यदु, तुर्वश, द्रह्यु, और अनु। इसके अलावा वशिष्ठ ने एक ऋचा में पक्थ, भलान, अलिन, विषाणी और शिव के नाम भी दिए हैं। प्रमुख आर्य राजाओं में—मनु, पुरुरवा, नहुष, मंधाता, दिवोदास और सुदास के व्यक्तित्व एवम् कार्यों का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि दिवोदास और सुदास वीर और संगठनकर्ता नायक थे और उन्होंने आर्यों के प्रभाव का विस्तार किया। शंबर दस्युओं का प्रतापी राजा था और वह लगभग सौ दुर्गों का स्वामी था। ये किले पत्थर और धातु के सदृश मजबूत थे। दिवोदास ने इन्द्र की सहायता से शंबर को परास्त किया। आर्यजनों में आपस में भी युद्ध होते थे, जिनका कारण लेखक के अनुसार प्रभुता और राज्य विस्तार की कामना थी।

ऋग्वेद में दो प्रमुख युद्धों का उल्लेख हुआ है। एक शंबर युद्ध और दूसरा



दाशराज युद्ध—जो सुदास और अन्य दस आर्य राजाओं के मध्य लड़ा गया था। आर्यों द्वारा प्रयुक्त अस्त्रों में धनुष, बाण का उल्लेख ऋग्वेद में है। कवच भी उपयोग में लाए जाते थे। 'परशुं चिद्वित पति शिम्बलं' और 'वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः' जैसे उल्लेखों से मालूम होता है कि परशु (फरसा) और ऋष्टि (छुरा) भी प्रयुक्त होते थे। इन्द्र के वज्र (गदा) का उल्लेख कई ऋचाओं में है। लेखक ने विस्तार से—ऋचाओं को उद्धृत करते हुए इन सबका वर्णन किया है। यहाँ लेखक को सांस्कृतिक निरन्तरता की दृष्टि से वैदिक अस्त्र-शस्त्रों की तुलना हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त हथियारों से करते हुए—उनमें साम्य और आए क्रमिक परिवर्तनों के स्वरूप की चर्चा अवश्य करना चाहिए थी। उदाहरण के लिए वैदिक परशु और हड़प्पा खुदाई से प्राप्त परशु की तुलना दर्शाई जा सकती थी।

संचित ज्ञान एक युग से दूसरे में और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संप्रेषित होता है। ऋग्वेदिक आर्यों का गणित और ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त उत्कृष्ट था—पर ऐसा उनके परवर्ती हड़प्पा निवासियों के बारे में नहीं कहा जा सकता। सांस्कृतिक निरन्तरता के प्राचलों में वैज्ञानिक ज्ञान भी एक महत्त्वपूर्ण अवयव है और इस परिप्रेक्ष्य से इस कोण पर भी पुस्तक में चर्चा की जानी चाहिए थी।

पाँचवाँ और छठा अध्याय ऋषियों और ऋषिकाओं पर केन्द्रित है। ऋग्वेद में लगभग 350 ऋषियों की रचनाएँ ऋचाओं के रूप में संकलित हैं। इन ऋचाओं से उस युग के समाज की आन्तरिक संरचना की जानकारी के साथ-साथ बहुत से अन्य विवरण भी प्राप्त होते हैं। लेखक ने भारद्वाज, वशिष्ठ, नामदेव आदि कई ऋषियों के साथ घोषा, लोपामुद्रा, विश्वामित्र—जैसी ऋषिकाओं की चर्चा की है। विश्वामित्र के सन्दर्भ से दिया गया नदी सूक्त का विवरण विशेष उल्लेखनीय है—और इसके लिए लेखक साधुवाद का पात्र है। ऋग्वेद सम्भवतया विश्व का पहला काव्य है जिसमें नदियों से संवाद है। तीसरे मण्डल के तैत्तिरीय सूक्त की ये मनोहारी तेरह ऋचाएँ ऋषि विश्वामित्र द्वारा रची गई हैं। इन ऋचाओं में विपाशा और शतुद्री (व्यास तथा सतलुज) नदियों के प्रचण्ड वेग, उन्मुक्त प्रवाह और नैसर्गिक सौन्दर्य की चर्चा सुन्दर वेदकालीन उपमाओं सहित की गई है। विश्वामित्र सेना के लिए नदियों से मार्ग माँगते हैं। वे कहते हैं:-

'पर्वत की गोद से निकलने वाली दो उन्मुक्त घोड़ियों की तरह हिनहिनाती हुई अथवा बछड़ों को चाटने की इच्छुक शुभ्र गौवों की तरह विपाशा और शतुद्री समुद्र से मिलने की अभिलाषा से तेज-तेज बहती हैं।'

'हे बहिनो! ठहरो, मुझ कवि के वचनों को सुनो। मैं दूर देश से तुम्हारे पास शकट-रथ द्वारा आया हूँ। थोड़ा नीची होकर सरलता से पार करने योग्य बन जाओ। हे नदियो, तुम मेरे रथ के धुरे से नीची हो जाओ।'

नदियों को सम्बन्धवाचक सम्बोधनों से सम्बोधित करने और उनसे मार्ग माँगने की यह कल्पना परम्परा से हमारे लोकगीतों में अभिव्यक्त होकर आज भी सुरक्षित है।

ऋग्वेद में सामाजिक संरचना के संकेतों के आधार पर लेखक ने तथ्यों की अन्तर्वेशित एवम् बहुर्वेशित व्याख्याओं और कल्पनाशीलता के समन्वय से उस युग के सामाजिक एवम् व्यावहारिक दर्शन, आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक एवम् आध्यात्मिक विश्वासों का सटीक और प्रामाणिक विवरण विभिन्न अध्यायों में प्रस्तुत किया है। यह विवरण तथ्यपरक और वस्तुनिष्ठ है। भाषा की प्रांजलता और प्रासंगिक उद्धरणों की बहुलता ने इस प्रस्तुति को भव्य और मनोरम स्वरूप दिया है। लेखक के अनुसार ऋग्वैदिक समाज एक सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और उन्नत समाज था। परिवार, आर्य-समूह के संगठन की मूलभूत इकाई के रूप में स्थिरता लिये हुए था। ऋग्वैदिक आर्य मौसमहारी थे पर गो-मौस खाने का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद में गाय को-अघ्न्या; जिसका वध नहीं किया जाता, कहा है—अभी इममघ्न्या उत श्रीणन्ति धनवः शिशुम। और उसे देवताओं की श्रेणी में रखा है। ऋग्वेद के छठे और 10वें मण्डल की 20 ऋचाओं में गायों की स्तुति की गई है। ऋषि भारद्वाज छठे मण्डल की एक ऋचा में कहते हैं: “गौवें हमारे घर आवें और हमारा कल्याण करें।” यह प्रार्थना आज भी हिन्दू परिवारों में दोहराई जाती है ऋग्वैदिक आर्य वस्त्राभूषणों के शौकीन थे। उनकी यह सुरुचि-सम्पन्नता हड़प्पा सभ्यता से लेकर आज तक भारतीय समाज में निरन्तरता बनाए हुए है। जुआ खेला जाता था—पर यह शिक्षा भी दी जाती थी ‘कृषिम इत् कृषस्व’ अर्थात् है जुआरी! अब कभी जुआ नहीं खेलना, खेती करना। ऋग्वेद में कृषि सम्बन्धी ऋचाएँ बहुलता से पाई जाती हैं। सामूहिक अथवा गण सम्पत्ति का कोई संकेत न तो ऋग्वेद में मिलता है और न ही उसके बाद की हड़प्पा सभ्यता में। ऋग्वेद भारतीय आर्ष-जीवन का काव्य है। उपमा और रूपक अलंकारों से अलंकृत (जिनके अनेकों उदाहरण लेखक ने उद्धृत किए हैं) और गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, जगती आदि छन्दों में आबद्ध इस वृहद् काव्य में 10, 414 ऋचाएँ हैं, जो 350 से भी अधिक ऋषियों द्वारा गायी गई थीं। ऋग्वेद के अधिकतर देवता वे हैं, जिनकी हमारे दैनिक जीवन में आवश्यक और उपयोगी भूमिका है, जैसे अग्नि, इंद्र, वरुण, अर्यमा (सूर्य) आदि। इसके अलावा नदियों, वृक्षों, पहाड़ों, और पृथ्वी की भी देवता के रूप में प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद के उषा सम्बन्धित सूक्त काव्यात्मक अभिव्यक्ति के श्रेष्ठ और सुन्दर उदाहरण हैं। इन ऋचाओं में वैदिक ऋषियों का कवि-मन मुखरित हुआ है और इनमें उनकी कल्पनाशीलता, रसज्ञता, तथा काव्य-प्रतिभा अपने चरम पर देखी जा सकती है। उन्होंने ऊषा को अनेक रूपों और विभिन्न छवियों में; जैसे द्युलोक की दुहिता, रात्रि की भगिनी, सूर्य की प्रेयसी, पति के समीप जाने वाली रमणी, अपने रूप को अनावृत्त करने वाली युवती के रूपकों में बाँधा है। इसी प्रकार ऋग्वेद के मंडूक सूक्त को पढ़कर वैदिक ऋषियों की वाग-विदग्धता और विस्मय-बोध पर आश्चर्य होता है। यहाँ मेढकों को भी देवताओं की श्रेणी में समाहित किया गया है। वैदिक ऋषि मेढकों के वर्ण और

स्वरों की विविधता से प्रभावित थे। मेढकों के टराने में उन्हें कभी बछड़े वाली गायों का स्वर तो कभी बकरी के मिमियाने की आवाज सुनाई पड़ती है। ऋषियों ने इन्हें वर्षा के अग्रदूत और सन्देशवाहक के रूप में देखा। ज्ञान की जिन ऋचाओं के साथ ऋग्वेद का समापन होता है उनमें समान विचार, समान संकल्पशक्ति, समान मन और समान अध्यवसाय की सर्वजनीन कामना की गई है। विश्वकल्याण के लिए समवेत स्वरों में की गई यह प्रार्थना विश्वसाहित्य में अद्वितीय और अनूठी है।

पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय ऋग्वैदिक दर्शन पर है। लेखक के अनुसार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ही उपनिषदों के रहस्यवाद और ब्रह्म की अज्ञेयता के सिद्धान्तों के उत्स हैं।

ऋग्वेदीय पेय सोम के बारे लेखक का अनुमान है सोम की लता हरे रंग की रही होगी और “भाँग का पौधा सम्भवतः सोम निकालने का पौधा रहा हो।”

पुस्तक का एक अध्याय ‘ऋग्वैदिक वनस्पति और प्राणिजात’ और एक अन्य अध्याय ऋग्वेद की नदी सरस्वती पर केन्द्रित है। इन शोधपरक अध्यायों में नई जानकारीयों समाहित हैं। हमें ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक युग वनस्पति समृद्ध था। वैदिक ऋषि समग्रता से एक ही सत्ता की विविध छवियों के रूप में वनस्पतियों, पेड़ और पौधों को देखते थे। अद्भुत और सूक्ष्म थी उनकी अवलोकन क्षमता! जिन पेड़-पौधों का चित्रण ऋग्वेद में हुआ है उससे यह धारणा बनती है कि यह गंगा और सिन्धु नदी के मध्य का स्थान रहा होगा—जिसे हम आर्यों का मूल स्थान कह सकते हैं। यह तथ्य भी रेखांकित किया गया है कि इन वर्णनों में भारत के बाहर के पर्यावरण का कोई उल्लेख नहीं है—इससे भारत-भूमि से आर्यों का सनातन सम्बन्ध पुष्ट होता है। इसी क्रम में ऋग्वैदिक और हड़प्पा सभ्यता की अन्य वैज्ञानिक उपलब्धियों के बारे में लेखक ने कोई वर्णन नहीं दिया है। यह एक अखरने वाली कमी है। वेदों में वर्णित ‘सरस्वती’ नदी के बारे में लेखक उदाहरणों के आधार पर एवम् भू-गर्भीय प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट मानता है कि सरस्वती उस युग की एक शक्तिशाली नदी थी, जिसके दोनों तट पर आर्य बस्तियाँ थीं। लेखक ने सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता बी.बी.लाल के हवाले से कहा है कि हड़प्पाकालीन कालीबंगा सरस्वती के तट पर बसी एक उन्नत बस्ती थी जो कालांतर में नदी के सूख जाने के कारण उजड़ गई।

‘ऋग्वैदिक समाज में राज्य की अवधारणा’ नामक अध्याय में उस युग की राजनैतिक राज्य व्यवस्था पर विस्तार से प्रकाश डाला है। लेखक के अनुसार नीचे से ऊपर की और व्यवस्था का क्रम निम्नानुसार था—

इकाई	मुखिया
कुल	कुलपा:
↓	
ग्राम	ग्रामणी
↓	
गण	गणपति
↓	
समिति	राजा

लेखक का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि ऋग्वैदिक राजसत्ता निरंकुश नहीं थी और उसमें जनों के हस्तक्षेप के पर्याप्त प्रमाण हैं।

ऋग्वेद के संवाद काव्य, नीति, और रीति-रिवाजों व मान्यताओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय माने जाते हैं। लेखक ने पुरूरवा-उर्वशी, पणि-सरमा, यम-यमी, और नदी सूक्त के संवादों को उद्धृत किया है। इन संवादों में वैदिक ऋषियों की तर्क शक्ति के साथ आलंकारिक स्थापत्य की अद्भुत क्षमता का परिचय मिलता है।

लेखक का मानना है कि ऋग्वैदिक समाज की सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक व्यवस्था का अभी और अध्ययन आवश्यक है। हड़प्पा सभ्यता से उसकी शृंखला अपनी निरन्तरता में—पारिवारिक व्यवस्था, मृतक संस्कारों, खेती की प्रविधियों, धार्मिक मान्यताओं आदि में आज भी सुरक्षित है।

कुल मिलाकर यह एक पठनीय शोधग्रन्थ है—जो और गम्भीर अध्ययन की विराट सम्भावनाओं को जगाता है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर लेखक के विद्वत्-श्रम, शोध-दृष्टि और निष्कर्ष-क्षमता की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इससे हमारा सांस्कृतिक वाङ्मय निश्चित ही समृद्ध हुआ है। एक विशेष पूर्वाग्रह से अभी तक लिखे गए भारत के इतिहास का—यह एक सशक्त और वस्तुनिष्ठ प्रतिउत्तर भी है।

# सूफी सरमद जो औरंगजेब के हाथों शहीद हुए

परमानन्द पांचाल

दिल्ली में जामा मस्जिद के पूर्वी दरवाजे के सामने एक उपेक्षित सी मजार (समाधि) है, जो प्रसिद्ध सूफी सन्त सरमद की कब्र है। यहाँ उनकी शहादत के सम्बन्ध में हर वर्ष उसका मेला लगता है। वैसे वह मजार साधारण सी है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है जो सम्राट औरंगजेब की कट्टरता, निदर्यता, मदान्धता और असहिष्णुता की कहानी कह रहा है।

सम्राट औरंगजेब की आज्ञा से 1070 हिजरी में सूफी सरमद का सर कलम कर दिया गया था। औरंगजेब ने अपने बड़े भाई दाराशिकोह को जो, एक उच्च कोटि के विद्वान और दार्शनिक थे, ठिकाने लगाकर अपने पिता, शाहजहाँ को आगरे में कैद करके अपने साम्राज्य के सभी संभावित शत्रुओं को अपने मार्ग से हटाने का कार्य आरम्भ कर दिया। उनमें से सरमद नाम का एक सूफी भी था। सरमद के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने बहुत कम लिखा है। प्रसिद्ध इतिहासकार खानी खाँ ने अपनी पुस्तक में जहाँ औरंगजेब की हर छोटी-बड़ी घटनाओं का उल्लेख किया है, वहाँ सरमद के कल्ल का कोई जिक्र नहीं किया। औरंगजेब के असहिष्णुतापूर्ण रवैये के कारण लेखक और कवि उससे डरते थे और उसका कोप-भोजन नहीं बनना चाहते थे, नहीं तो इतनी बड़ी घटना का उल्लेख वे अवश्य करते। सूफी सरमद भी “मंसूर” की भाँति परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता में विश्वास नहीं करता था और यह कहा जाता है कि सरमद कल्मे को भी पूरा नहीं पढ़ता था। वह सदा निर्वस्त्र घूमा करता था। वह कहा करता था कि मेरे पास ऐसा कुछ नहीं है, जिसे मैं छिपाऊँ। सरमद मूल रूप से एक व्यापारी था और व्यापार के सिलसिले में वह हिन्दुस्तान आया था। वह ईरान से सिंध होता हुआ दिल्ली पहुँचा था। जब वह सिंध के नगर टट्टा में था, तो वह किसी के प्रेम में पड़ गया, बाद में वह प्रेम सांसारिक न रहकर ईश्वर प्रेम में परिवर्तित हो गया। उसने सभी सांसारिक वस्तुओं को त्याग दिया और निर्वस्त्र तथा दिगम्बर अवस्था में घूमने

\* डॉ. परमानन्द पांचाल, 232 ए, पाकेट-1, फेज-1, नई दिल्ली-91

लगा। अब वह धार्मिक संकीर्णता को लौघ चुका था और किसी भी दिखावे अथवा औपचारिकता में पड़ना नहीं चाहता था। उसने परमात्मा को सही रूप में पहचान लिया था। अब उसे किसी मन्दिर या मस्जिद की आवश्यकता नहीं रह गई थी। जब वह दिल्ली आया तो शाहजहां के शासनकाल का आखिरी समय था। शाहजहां ने दाराशिकोह को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। दाराशिकोह एक उदार और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखने वाला एक विद्वान व्यक्ति था। वह राजनीति के क्षेत्र में औरंगजेब की तरह चालाक और कूटनीतिज्ञ नहीं था। जब सरमद की ख्याति दिल्ली नगर में फैल गई तो दाराशिकोह ने भी उससे मिलने और उसका संगति-लाभ उठाने की इच्छा जाहिर की। उसने सरमद को बुलाया और वह उसके सूफी विचारों से बहुत प्रभावित हुआ। फिर दोनों में घनिष्ठता बढ़ती गई। जब औरंगजेब ने दिल्ली की गद्दी को हथिया लिया तो उसकी निगाह सरमद पर भी पड़ी। चूँकी दाराशिकोह और सरमद में आपसी सम्बन्ध बढ़े प्रगाढ़ थे, इसलिए उसने सरमद को भी शासन का एक बड़ा शत्रु समझा और उसे रास्ते से हटाने के प्रयत्न करने लगा।

सरमद अब तक जनता में काफी लोकप्रिय हो चुका था। उसे सजा देना आसान काम नहीं था। शासन के ऊँचे अधिकारी और शाही खानदान के कुछ व्यक्ति भी उससे प्रभावित थे। इसलिए उस पर हाथ डालने का अर्थ था—एक बगावत को न्यौता देना।

इसके लिए औरंगजेब ने एक षडयन्त्र की योजना बनाई और धार्मिक नेताओं तथा मुल्लाओं और मौलवियों को उसके खिलाफ कोई फतवा देने और उस पर धार्मिक अपराध लगाने के लिए उकसाया, जिससे कि उसे धार्मिक जुर्म में सजा दी जा सके। कट्टरपंथी मजहबी पेशावा तो ऐसा चाहते ही थे कि सरमद को नास्तिक करार दे कर उसे सजा दी जाए। मुल्ला और मौलवी उसके विरुद्ध प्रमाण जुटाने में लग गए। दाराशिकोह के पुतकालय से सरमद का वह पत्र ढूँढ निकाला गया जिसमें लिखा था—

“दारा बनाम सरमद”

“पीर व मुर्शिद! मैं प्रत्येक दिन आपके दर्शन करने का इरादा करता हूँ, लेकिन यह पूरा नहीं होता। यदि मैं वाकई में हूँ, तो मेरा पक्का इरादा और उद्देश्य क्यों पूरा नहीं होता और यदि मैं कुछ भी नहीं, तो मेरा कसूर ही क्या है? अगर हुसैन का वध परमात्मा की मर्जी से ही है, तो यजीद दण्ड का भागी क्यों? और यदि परमात्मा की आज्ञा नहीं थी, तो इसका क्या अर्थ है कि परमात्मा जो चाहता है करता है। इस्लाम के पैगम्बर इस्लाम के अपराधियों के विरुद्ध सेना इकट्ठी करते थे, लेकिन इस्लाम की सेना को पराजय का सामना करना पड़ा था। क्यों? विद्वान कहते हैं कि यह एक सबक था। परन्तु जो लोग अपने व्यक्तित्व में ही पूर्ण हैं, उनके लिए सबक की क्या जरूरत है। सरमद ने जवाब दिया “मेरे प्रिय मित्र? हमने जो कुछ पढ़ा भूल गए, सिवाय जिक्रे महबूब, जिसे बार-बार करते हैं।”

सरमद के पीछे गुप्तचरों को लगा दिया गया, जिन्होंने यह रिपोर्ट प्रस्तुत की कि सरमद ने दाराशिकोह की विजय के लिए दुआ की थी। इसलिए बहुत सम्भावना है कि यह फकीर हुकूमत के खिलाफ किसी षडयन्त्र में में समिलित हो जाए। एक बार औरंगजेब जब शाहजहां की जामा मस्जिद में नमाज के लिए जा रहा था तो उसने रास्ते में सरमद को बैठे हुए देखा और उसने कहा कि आप आम रास्ते पर नंगा न बैठा करें। कम से कम यह कम्बल जो आपके पास पड़ा है ओढ़ लें। किन्तु सरमद ने गुस्से से बादशाह की ओर देखा और कहा, “ला तू ही उड़ा दे।” कहते हैं जब आलमगीर ने कम्बल का कोना पकड़ कर उठाना चाहा, तो कम्बल के नीचे कुछ ऐसे मानव सिर ताजे कटे हुए रखे थे, जिनसे रक्त बह रहा था। इनमें उनके तीनों भतीजों और साथियों के चेहरे भी शामिल थे। बादशाह ने यह दृश्य देखा, तो घबरा गए। पकड़ा हुआ कम्बल हाथों से छूट गया। अब सरमद ने कहा “अब तू ही बतला कि तेरे ऐबों को छिपाऊँ या अपने सिर को।” औरंगजेब खामोशी के साथ सिर झुकाए वापस चला गया।

सरमद जब कलमा पढ़ते तो “ला-इल्लाहा इललिल्ला” पढ़ते। उससे आगे पढ़ने से रुक जाते। तो लोग कहते कि आगे क्यों नहीं पढ़ते? तो वह फर्माते कि अभी मैं “नफी” की मंजिल में हूँ जब परमात्मा के दर्शन करूँगा तभी पूरा कलमा पढ़ सकता हूँ। जिस वस्तु को मैंने नहीं देखा, उसे स्वीकार कैसे कर लूँ? इसे सुनकर मौलवियों ने उसे नास्तिक होने का फतवा दे दिया। लोगों ने इनसे बार-बार अनुरोध किया कि आप नंगा रहना छोड़ दें और पूरा कलमा पढ़ा करें। परन्तु सरमद टस से मस न हुए। उसके मित्र अहैद शाह ने भी कहा कि आपको अपनी जिन्दगी प्यारी नहीं। परन्तु हमें आपकी नितान्त आवश्यकता है। औरंगजेब ने काफी सोच विचार और सलाहकारों के अनुरोध पर उसके मृत्यु दण्ड पर हस्ताक्षर कर दिए थे। सरमद ने मुस्कराकर कहा—

“उमरेस्त के आवाज-ए-मनसूर कुहन शुद

“मन अज सिर तो जलवे दहम दारो-रसन रा”

अर्थात् मंसूर की फाँसी की कहानी पुरानी हो गई है। मैं अब उसे फिर से दोहराना चाहता हूँ।

ज्ञातव्य है कि मंसूर को ‘अनलहक’ अर्थात् “नहीं है कोई परमात्मा के सिवाय” कहने पर फाँसी की सजा दे दी गई थी।

सरमद को भी 1070 हिजरी में जामा मस्जिद के सामने जहाँ आज उनका यह मजार है, सरे आम कत्ल कर दिया गया था। लोग कहते हैं कि उसके वध के समय वहाँ उसे देखने के लिए इतने लोग एकत्रित हुए कि चारों तरफ सिर ही सिर नजर आते थे। जब जल्लाद ने अपनी चमकती हुई तलवार निकाली तो उसने सरमद के मुँह पर कपड़ा डालने का प्रयत्न किया। लेकिन सरमद ने इन्कार कर दिया और जल्लाद से कहा कि वह अपना काम करे और एक शेर पढ़ा।

सरमद के कत्ल के बाद जनता में कोई आंतक न फैल जाए, इसके लिए शहर में मुनादी करा दी गई कि सरमद मुसलमान होकर खुदा को नहीं मानता और नंगा रहकर इस्लाम को बदनाम करता है। यह घटना औरंगजेब के शासनारूढ़ होने के एक वर्ष बाद घटी। लोग कहते हैं कि जब सरमद का सर धड़, से अलग हुआ तो एक आवाज आई, जिसमें पूरा कलमा पढ़ा गया था। परन्तु वह जनश्रुति ही है। आज शहीद सरमद का मजार भी उनके गुरु सैयद अब्बुल कासिम उर्फ “हरे-भरे शाह” की बगल में ही मौजूद हैं।

## प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पत्रिकाएँ:  
**संवाद-सृजन**, सम्पादक: जगदीश तोमर, प्रकाशक: प्रेमचन्द सृजन पीठ, उज्जैन; मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल, एफ-2, विक्रम विश्वविद्यालय परिसर, उज्जैन - 456 090, पृष्ठ: 92।

**पुरवैया**, सार्वभौम सरोकारों का रचनाधर्मी मासिक, वर्ष:7, अंक:9, सितम्बर 2007, सम्पादक: विनय त्रिपाठी, मुद्रक एवं प्रकाशक: विनय त्रिपाठी द्वारा शब्द प्रिंटिंग इण्डस्ट्रीज, थाना सिटी कोतवाली के पास, भोपाल-462 001 से मुद्रित और 20/2, सीटीओ, बैरागढ़, भोपाल, म.प्र., पिन-462 030 से प्रकाशित, पृष्ठ:42, मूल्य 25 रुपये।



## औद्योगिकीकरण के विषम सामाजिक प्रभाव का अंग्रेजी साहित्य में चित्रण

पल्लवी मिश्र\*

पश्चिम में शहरीकरण की प्रक्रिया बड़े पैमाने पर औद्योगिक क्रान्ति के साथ शुरू हुई। अठारहवीं सदी को आधुनिक काल के प्रादुर्भाव का काल माना जा सकता है। ब्रितानी समाज उपभोक्तावादी मानसिकता से त्रस्त महसूस करने लगा जो पूर्णतया औद्योगिकीकरण की ही देन थी और समाज पर छाए इस प्लेग को संवेदनशील कवियों और लेखकों ने और यहाँ तक कि चित्रकारों ने भी उकेरने का सफल प्रयास किया।

‘विलियम ब्लेक’ (1757-1827) ने अपनी कविताओं और चित्रों में समाज में औद्योगिकीकरण से जन्मे बुराइयों, सामाजिक विपन्नता, एवं विघटन की स्थिति को उजागर किया। ब्लेक ने इस क्रान्ति को अपने चारों तरफ फैलते देखा और वह इसके दुष्परिणामों से भयभीत दिखा। अपनी कविताओं में उसने औद्योगिकीकरण से उपजी परजीविता, बाल-श्रम, गरीबी आदि सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उसने माना कि ‘दानशीलता’ (charity) की प्रथा का प्रचलन वहीं हो सकता है जहाँ गरीब जनता का बाहुल्य हो। उसने इंग्लैण्ड की सम्प्रभुता पर सवालिया निशान लगाया कि जिस देश की आम जनता को धनिक वर्ग की दानशीलता का सहारा हो वह अन्य देशों से समृद्धशाली कैसे हो सकता है? उसने इंग्लैण्ड को एक गैर जिम्मेदार देश माना जहाँ बच्चे अपने पिता द्वारा ‘चिमनी’ की सफाई के लिए दे दिए जाते हों! यह औद्योगिकता बच्चों से उनका बचपन छीन लेती है; और वह बच्चा उजाले में काला दाग (a little black thing in the snow) बनकर रह जाता है।

1850 से 1900 ई. तक के समय को जो विक्टोरिया काल (Victorian Age) के नाम से जाना जाता है, आधुनिक युग की उन्नति और विकास का युग माना जाता है और इसी युग में औद्योगिकीकरण अपने शिखर पर पहुँचा। उद्योगों का विकास मालिक और मजदूर दोनों के बीच तमाम परेशानियों को ले आया। इस युग में चार्ल्स डिकन्स (Charles Dickens-1812-7) जैसे उपन्यासकारों ने सामाजिक अवरोधों को अपने

\* प्रवक्ता (अंग्रेजी विभाग), राजकीय महाविद्यालय बोमडिला, अरुणाचल प्रदेश (भारत) 790001

उपन्यासों में बखूबी दर्शाया जो औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण उपर्जी। 'डिकेन्स' का उपन्यास *डेविड कॉपरफिल्ड* शहरीकरण की ऐसी प्रक्रिया को दर्शाता है, जहाँ व्यक्ति अपनी पहचान ऊँचे समाज और धनाढ्य वर्ग के लोगों में ही बना सकता है। यह शहरीकरण घटते मानवीय मूल्यों को जन्म देता है, जहाँ स्वार्थपरक रिश्ते सदैव आपके इर्द-गिर्द रहते हैं और आपका अहित होना ही उनका एकमात्र ध्येय रह जाता है।

डिकेन्स ने अपने उपन्यास *हार्ड टाइम्स* (Hard Times) में भी औद्योगीकरण और शहरीकरण के दुष्प्रभावों को चित्रित किया। इसमें उस ने 'सभ्यता' को एक बीमारी बताया और कहा कि, "समाज की दुर्व्यवस्था चोर, उच्चकों, हत्यारों और सामाजिक कानून का उल्लंघन करने वालों से नहीं बल्कि हमारे उभरते उद्योगपतियों के कारण है जो लोगों को लूट रहे हैं, उनकी हत्या कर रहे हैं।"

जार्ज बर्नार्ड शॉ के शब्दों में, "इस उपन्यास में कोई नायक और खलनायक नहीं है, केवल दमन करने वाली शक्तियाँ और दमित होते लोग हैं, जिन्हें एक मशीनरी अपने रेले में लिए चलती है, जो लोगों को टुकड़ों में पीसती जाती है।"

(Here you will find no more villains and heroes, but only oppressors and victims, oppressing and suffering in spite of themselves, driven by a huge machinery which grinds of pieces the people it should nourish and ennoble, and having for its directors the basest and most foolish of us instead of the noblest and most far-sighted)

अपने उपन्यास *हार्ड टाइम्स* में कोकटाउन शहर को डिकेन्स ने कुछ इस तरह चित्रित किया है—

"It was a town of red brick, or of brick that would have been red if the smoke and ashes had allowed it; but as matters stood it was a town of unnatural red and black like the painted face of a savage. It was town of machinery and tall Chimneys..."

औद्योगीकरण की प्रक्रिया से गुजरता एक शहर वीभत्सता की काली चादर के नीचे सारी प्राकृतिक सम्भावनाओं को खोता चला जाता है—ये प्राकृतिक सम्भावनाएँ मानवीय भी हैं और प्रकृति-प्रदत्त भी। वह कहता है कि, "कारखानों में काम करने वाले ये मजदूर सब एक जैसे दिखते हैं जो एक ही समय पर आते और जाते हैं, एक ही तरह की आवाज इनके चलने से फुटपाथों पर आती है, जो एक ही तरह का काम करते हैं। उनकी आवश्यकता और विश्राम की किसी मालिक को फिक्र नहीं है। उनकी नजर में वे केवल मशीनी हाथ हैं, काम करने वाले हाथ।"

"The workmen are not men at all; they are "hands", so many hundred hands, "so many hundred horse steampower". These men are not supposed to have any souls; they are hands who have to work upon, "the crashing, smashing, tearing mechanisms, day in and day out."

इतनी नीरस समानता मृत्यु का संकेत है—आत्मिक मृत्यु, जहाँ मनुष्य अपनी सारी मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षमताओं को नकार देता है—एक रेले में चला जाता है; जहाँ 'जीवन' और 'मृत्यु' दो पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं। एक पूरा मजदूर वर्ग अस्तित्वहीनता की त्रासदी से गुजरता है। अपने मालिकों के लिए वे सिर्फ किसी मशीन में लगे कलपुर्जे की तरह हैं, जिन्हें अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार काम पर लगाया जा सकता है।

औद्योगिकरण का दुष्परिणाम केवल बाह्य जीवन-शैली, विषम गरीबी तक ही सीमित नहीं, बल्कि बौद्धिक स्तर पर भी व्याप्त दिखता है। अत्यधिक पूँजीवादी-प्रवृत्ति स्वार्थपरता और लालच को बढ़ाती है, जो मानीवय संवेदनाओं की हत्या करते हैं। डिक्से ने हार्ड टाइम्स में इस त्रासदी को बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। उद्योगपति अपने बच्चों की शिक्षा और परवरिश इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर करते हैं कि उन्हें सिर्फ बौद्धिक चिन्तन करना है जो वस्तुओं के मूल्य-परक ज्ञान तक ही सीमित है। "कल्पना" या काल्पनिक चिन्तन उनके तथ्यात्मक होने के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है। वे छोटे, मासूम बच्चों को भी काल्पनिक न होकर केवल विवेक और तथ्य पर आधारित होने एवं 'व्यवहारपरक' और 'वास्तविक' होने को मजबूर करते हैं। हृदयहीनता ही वस्तुपरक विकास की प्रथम सीढ़ी बनती प्रतीत होती है। उनका पिता, ग्रेण्ड ग्राण्ड (Gradgrind) अपने बच्चों को "Twinkle, Twinkle, Little star, how I wonder what you are" गाते नहीं सुन सकता क्योंकि कल्पनातीत व्यवहार उसे नापसन्द है और काल्पनिक लोग औद्योगिक समाज में बुरी तरह पिछड़ जाते हैं। वह पूरी तरह से वास्तविकता में विश्वास रखता है और हमेशा अपने पास स्केल और गणित के पहाड़ों की एक किताब रखता है क्योंकि उसके अनुसार 'जीवन' और 'जीवित' लोग केवल तथ्य तथा अंक की वस्तु (Matters of Fact and Figures) हैं।

बच्चे स्वयं को एक ऐसी दुनिया में महसूस करते हैं जो बड़ी आकर्षक है, पर वह उसे छूने और महसूस करने से डरते हैं क्योंकि खूबसूरती, खुशी, प्यार और प्रकृति वे 'तथ्य' नहीं; जिससे पैसे कमाए जा सकें, जिनसे भौतिक जीवन को बेहतर बनाया जाता है। ये बच्चे एक असामान्य चुप्पी ओढ़े रहते हैं, उन्हें कुछ पूछने, कहने का नहीं, बस जानने का अधिकार है। यह मरघट-की सी शान्ति बड़ी खतरनाक है।

डिकेन्स ने ग्रेण्ड ग्राण्ड की बेटी लुइसा को अपने पिता के उपभोक्तावादी, संस्कारों के कारण बेहद परेशान दिखाया है जिसके कारण उसका वैवाहिक जीवन यातनापूर्ण है। वह चुपचाप अपने पति बाउण्डरबी की स्वार्थपरक जीवनशैली को सहती जाती है।

डिकेन्स ने अपने अन्य उपन्यास *डोम्बे एण्ड सन*, *आवर म्युचुअल फ्रेण्ड* तथा *ग्रेट एक्सपेक्टेन्स* में भी लालच और पैसे की असीम चाहत को ही सारी पनपती बुराइयों की जड़ माना है।

उन्नीसवीं सदी के अन्तराल में टॉमस हार्डी (1840-1928) के उपन्यासों के पात्र मूलतः अपने जीवन-चक्र में अत्यन्त मानसिक कठिनाइयों से गुजरते हैं क्योंकि संवेदनशील और प्राकृतिक होने पर समाज उनकी संवेदनशील सम्भावनाओं की हत्या करता जाता है और उनका अन्त दुःखद है।

ये कठिनाईयाँ प्रकृतिक-प्रदत्त भी हैं और बदलते समाज का स्वरूप भी इन पात्रों के जीवन में परेशानियाँ, दुख, तनाव काफी अधिक मात्रा में ले आता है।

माइकल हैंचर्ड (कास्टरब्रिज के निगमाध्यक्ष) जैसे पात्र यह महसूस करते हैं कि प्रकृति कभी बदलती नहीं और प्रकृति पर विजय तभी सम्भव है जब आप सम्पूर्ण रूप से अपने आपको उसके सुपुर्द कर दें। लेकिन विज्ञान और उद्योग; 'कास्टरब्रिज' जैसी छोटी जगहों पर भी पहुँच हानि पहुँचा रहा है। *टेस आफ द ड्यूरबर विलेस* की नायिका टेस, एक गरीब परिवार में जन्मी, अत्यन्त परिश्रमी और स्वस्थ विचारों और भावों वाली युवती है जो गरीब और शराबी पिता और माँ की महत्त्वकांक्षाओं की बलि चढ़ जाती है। उसका केवल नेक और परिश्रमी पुत्री होना पर्याप्त नहीं बल्कि किसी धनाढ्य वर्ग के युवक से उसका विवाह होना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक वर्ग-विभाजन की श्रेणी में ऊँचाई पर उठाने की लालसा उपभोक्तावादी मानसिकता की ही देन है।

हार्डी के रचनाकाल में अत्यधिक परिश्रम का कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं, संस्थाओं के चलते व्यर्थ हो जाना, यह एक विषम स्थिति थी; चूँकि सामाजिक तन्त्र और व्यवस्थाएँ कुछ शक्तिशाली वर्ग के हाथ में आ चुकीं थी। परिश्रम का व्यर्थ चले जाना एक आत्महीनता, दृष्टिहीनता, और अकेलेपन को जन्म देता है, जिससे निरर्थकता का आभास स्वतः ही होने लगता है। *ज्युड द आब्सक्योर* हार्डी का एक प्रेम-कथानक है, जो प्रेम की सामाजिक विफलता को परिलक्षित करता है। व्यवहारपरक एवं भौतिक सम्भावनाओं को दरकिनार कर किया गया प्रेम मनुष्य को केवल यातना और आँसू दे पाता है, क्योंकि समाज और समाज-व्यवस्था भावनाओं और उसमें उपजी परिकल्पनाओं को स्वतः ही अस्वीकार कर देती है और इस अस्वीकार से स्वयं को विजयी या गौरवान्वित महसूस करती है। उपन्यास का नायक 'जुयड्' पूरी तरह से द्वन्द्वों से जूझता है—एक तरफ उसका अन्तर्मन और दूसरा बाह्य सामाजिक बन्धन, रूढ़ियाँ और आर्थिक-व्यवस्था से उपजी वर्ग-विषमता। उच्च शिक्षा के लिए बनी संस्थाएँ उसे अपने स्तर से बहुत नीचे पाती हैं, अतः वहाँ उसका प्रवेश वर्जित है। 'हार्डी' कहता है, कि, "शहर में केवल दो श्रेणी के लोग हैं—डॉक्टर और पुरोहित, जो पहले श्रेणी के हैं और दूसरी श्रेणी उन सामान्य अथवा आम लोगों की है जिन्हें किसी चीज की कोई जानकारी नहीं है। इस शहर (क्राइस्टमिन्स्टर) में आकर जुयुड् की सारी मान्यताएँ टूटती हैं, चाहे वह चर्च के सन्दर्भ में हो, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय या विवाह की सामाजिक संस्था—फलतः वह स्वयं को बिलकुल अलग-थलग पाता है।

हार्डी ने अपने उपन्यासों में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की ओर अग्रसर

होती सभ्यता पर प्रश्नचिन्ह लगाया है जहाँ व्यक्ति की जीवन-शैली उसकी बौद्धिक, धार्मिक और संवेदनशील होने की सम्भावनाओं को नष्ट करती चली जा रही है।

हार्डी के अनुसार कम से कम ये तीन चीजें मानव-जीवन की त्रासदी के लिए जिम्मेदार हैं ही—

1. प्रकृति के स्वाभाविक नियमों और मानवीय क्रियाओं से उपजा द्वन्द्व।
2. समाज में स्थापित मूल्य जो अपनी सत्यता खोते चले जा रहे हैं।
3. मानव-जीवन के आस-पास ऐसा परिवेश जो मनुष्य की स्वच्छन्दता को बाधित करता है।

बीसवीं सदी ने प्रथम विश्वयुद्ध देखा और यह विश्वयुद्ध मशीनीकरण की वीभत्सता से सराबोर था। इस युद्ध ने विघटन को चरम सीमा तक ला खड़ा किया। इसकी हिंसा और निरर्थकता ने मनुष्य को नास्तिक बनाया। पुरानी परम्पराएँ, धारणाएँ इत्यादि ऐसे कटघरे में खड़ी कर दी गईं, जहाँ से जीवन जीने का कोई भी सरल मार्ग दिखाई नहीं देता था। युद्ध की वीभत्सता और हिंसा ने मौलिक मान्यताओं और उस पर आधारित जीवन-शैली को तहस-नहस कर डाला।

डैविड हर्बर्ट रिचार्ड्स लॉरेन्स का जन्म 1885 में हुआ था और इन्होंने *द रेनबो*, *सन्स एण्ड लव्हर्स*, *वुमन इन लव*, *द वाइट पिकाक* जैसे अनेक चर्चित उपन्यास लिखे जिनका अंग्रेजी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है।

जुंग और फ्रायड ने (अवचेतन/अचेतन) को मनुष्य के द्वारा होने वाले आचार-व्यवहार के लिए जिम्मेदार बताया। विक्टोरिया काल तक उसके द्वारा किए गए सही और गलत कामों के लिए केवल व्यक्ति को ही जिम्मेदार माना जाता था, पर यह सिद्धान्त पूरी तरह नकार दिया गया। व्यक्ति की बौद्धिक और विवेकी होने की छवि न रह गई, बल्कि उसके तमाम क्रिया-कलाप उसकी अर्धचेतना से क्रियान्वित होती दिखाई जाने लगी। इसने तमाम तरह की यौन-सम्बन्धित व्याख्याओं और परिचर्चाओं को जन्म दिया। यूँ कहा जाए, तो एक खुला और वर्जनाओं से परे सेक्स-परिचर्चा आधुनिक होने का पर्याय बन गई। युद्ध का प्रभाव सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर सीधे तो पड़ा ही, पारिवारिक जीवन भी टूटने लगा। जिस तरह युद्ध, किसी भी देश की राजनीतिक पकड़ को तोड़ डालता है 'वह' 'केन्द्र' जहाँ से सारे देश का संचालन होता है, उसकी पहचान ही नहीं रह जाती, यिट्स (W.B. Yeats) के शब्दों में सब कुछ बिखर जाता है, चीजें एकजुट नहीं रह पातीं, विश्व में अराजकता फैल जाती है। (Things fall apart, the Centre cannot hold, Mere Anarchy is loosened on the World); उसी तरह पितृसत्तात्मक परिवार के टूटने पर युवा वर्ग एक तरह की जड़हीनता का शिकार होता चला गया।

औद्योगिकता, उपभोक्तावादी मानसिकता की देन वर्ग-युद्ध को लारेन्स ने काफी सूक्ष्मता से अपनी उपन्यासों में चित्रित किया है।

वुमन इन लव नामक उपन्यास में जेराल्ड (Gerald) शुष्क, मशीनी दुनिया में अपनी पहचान बनाने वाला ऐसा पात्र है, जिसे मनुष्यता में कोई दिलचस्पी नहीं है। एक बड़े उद्योगपति के घर में जन्मे जेराल्ड को कोयले के खदानों में काम करते मजदूर उसे अपनी चेतना पर पड़े घाव की तरह महसूस होते हैं। बेल्लोवर के बाजार में धीरे-धीरे अपने मोटर कार को लोगों की भीड़ से निकालते उसे लगता है मानो वह एक जड़ एवं ठोस मानव-समूह से गुजर रहा हो जो बेहद भद्दे और असहनीय हैं, स्वयं वह उस मशीनी दुनिया का ईश्वर हो और वह ठोस, भद्दा जनसमूह स्वतः ही उसकी गाड़ी के लिए जगह बनाता चला जा रहा हो। वह इसकी परवाह नहीं करता कि वे लोग उससे खिन्न हैं या प्रसन्न, वह इसकी भी परवाह नहीं करता कि वे सारे लोग उसके विषय में क्या धारणा रखते हैं, उसे बस उनके आश्रित होने का आभास है; उसने जान लिया है कि मानवता, दया, दुख-दर्द आदि के विषय में अब तक होने वाले सारे विवाद निरर्थक हैं। उसके अनुसार किसी व्यक्ति में होने वाली सारी मानसिक परेशानियाँ किसी भी परिस्थिति को बना या बिगाड़ नहीं सकती, ये केवल बदलते हुए परिवेश का आभास भर है, ठीक वैसे ही जैसे मौसम में होता परिवर्तन। बस, एक ही चीज सन्दर्भशील है और वह है व्यक्ति की मशीनी दुनिया में उपयोगिता।

लारेन्स के शब्दों में इसे 'व्यक्ति की विशुद्ध यांत्रिकता' (Pure instrumentality of an individual) कहा जा सकता है—द इण्डस्ट्रियल मैग्नेट (The Industrial Magnate) में लारेन्स लिखते हैं—

“Everything in the world has its function and is good or not good in so far as it fulfils this function more or less perfectly. Was a miner a good miner? Then he was complete. Was a manager a good manager? That was enough. Gerald himself, who was responsible for all this industry, was he a good director? If he were, he had fulfilled his life. The rest was by-play.”

अर्थात् यदि व्यावसायिक जीवन सुदृढ़ है, भौतिक जीवन की सुविधाएँ पाने हेतु आर्थिक स्थिति अच्छी है, तो जीवन सफल हुआ। पर लारेन्स यह सन्देश देना चाहता है कि जीवन की परिधि केवल भौतिक संसाधनों पर ही नहीं, बल्कि 'हृदय' और 'मस्तिष्क' दोनों का समुचित विकास होना आवश्यक है, वरना यह विखण्डित व्यक्तित्व (disintegrated Personality) को जन्म देती है। ऐसे लोग जीवन में सामंजस्य बिठाने में असमर्थ हो बिखरते चले जाते हैं। स्वयं को सम्पूर्ण रूप से मशीनी दुनिया में स्थापित कर लेने पर जेराल्ड यह महसूस करता है कि काम के रुक जाने पर जब वह अकेला होता है तो अपने भीतर के एक खालीपन के साथ होता है, मानो उसकी नीली आँखें किसी विशाल शून्य पर जड़े बुलबुले की तरह हों। इस तरह की निराशा, बोरियत, शून्यता “ईन्यूई” एक तरह की हिंसा को जन्म देती है। हिंसा और मौत यह जेराल्ड के

चरित्र की विशेषताएँ हैं, जो सतही तौर पर सदैव उसके मन और मस्तिष्क में विद्यमान रहती हैं। विघटन का कारण इसी जैविक बिखराव और शुद्ध मशीनी जुड़ाव को कहा जा सकता है। उस के उपन्यासों में औद्योगीकरण की वीभत्सता का प्रभाव मनुष्य की मनोदशा पर दर्शाया गया है। जैविक और प्राकृतिक परिवेश और सामाजिक मूल्य तो नष्ट हुए ही, साथ ही मनोदशा ऐसी क्लिष्ट होती गई कि स्वयं के भीतर पैदा होने वाली तमाम सृजनात्मकता एक काले अँधेरे खण्डहर में खोती चली गई। उसने अपनी कहानियों में भी पारिवारिक विघटन को काफी भावनात्मक रूप से चित्रित किया है। जो परिवार पहले कृषि पर अपना जीवन व्यतीत करते थे समय के साथ उनमें उपभोक्तावादी विचारधारा आने लगी, आवश्यकताएँ, संसाधन वगैरह की आकांक्षा बढ़ने लगी और साथ रहकर पूरे परिवार में एकजुट रहने पर स्वयं की आर्थिक स्थिति में ह्रास होने लगा। इसके कारण भाइयों में झगड़े, बहनों की जिम्मेदारी न लेना आदि पारिवारिक द्वेष बढ़ने लगे। अपनी कहानी 'द हार्स डीलर्स-डाटर' (The Horse dealer's daughter) में लारेन्स ने इस पारिवारिक विघटन का सार्थक रूप से चित्रण किया है।

## शिक्षा का प्रचार-प्रसार : महिलाओं की भूमिका और प्रदेय

डॉ. हरीश कुमार सेठी\*

शिक्षा, ज्ञान और चेतना के गवाक्ष खोलने का माध्यम है। यह मनुष्य का विकास करती है। मानव सभ्यता के विकास में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। शिक्षा जीवन को समझने के लिए तार्किक दृष्टि प्रदान करने के साथ-साथ अपने परिवेश के प्रति सजग भी बनाती है, स्वयं को जाँचने-परखने के लिए दृष्टि प्रदान करती है। शिक्षा के बिना मानव का जीवन अन्धकारमय है। शिक्षा किसी भी प्रकार के शोषण, बन्धन और गुलामी से मुक्ति का प्रवेश-द्वार है। शिक्षा वह महान सम्पत्ति है जो अनश्वर है। शिक्षा प्रकाश और शक्ति का वह स्रोत है जो मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों एवं क्षमताओं का निरन्तर एवं सामंजस्यपूर्ण विकास करके मानवीय गुणों को विकसित करती है, मानव-स्वभाव को उत्कृष्ट बनाती है। इस तरह कहा जा सकता है कि शिक्षा, प्रत्येक स्त्री-पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति-उपलब्धता में, उसके प्रचार-प्रसार में महिलाओं की विशेष भूमिका है।

भारतीय समाज में नारी को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता रहा है। नारी की महत्ता को पुरातन युग से स्वीकार किया जाता रहा है, उन्हें संस्कृति की वाहक-सहयोगिनी माना जाता रहा है। नारी के प्रति यह दृष्टि वस्तुतः भारत की मौलिक देन है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास और सुचारू जीवनयापन के लिए नारी के शिक्षित होने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब हम राष्ट्र के विकास के सन्दर्भ में शिक्षा की बात करते हैं तो यह विकास तब तक अधूरा ही कहा जाएगा जब तक कि महिलाएँ भी शिक्षित न हों। पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं के शिक्षित होने पर बल देकर ही देश उन्नति के चरम शिखर तक पहुँच सकता है।

\* डॉ. हरीश कुमार सेठी, हिन्दी विभाग, मानविकी विद्यापीठ, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068



## भारतीय समाज में नारी

भारतीय संस्कृति-समाज में नारी-रूपा शक्ति के बिना शिव को भी “शव” कहा जाता है। यही विचार भारतीय संस्कृति-समाज में नारी की गौरवपूर्ण स्थिति का द्योतक है। पुरातनकाल में नारी स्वतन्त्र थी। वैदिककालीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तदयुगीन जीवन और समाज में नारी का स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व रहा। उन्हें वेद-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने से लेकर यज्ञ करने-कराने तक का पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त था। हालाँकि कालान्तर में, परवर्ती युगों में, पुरुषों की निरंकुशता एवं अहंभाव ने नारी के मान को तिरोहित कर दिया और समाज में उसका स्थान व्यावहारिक दृष्टि से अपेक्षाकृत कम होता चला गया। और नारी के प्रति सम्मान का भाव अनेक प्रकार से विरोधाभासों का आगार बनता चला गया। मध्य युग में तो वह बिलकुल पंगु हो गई। स्थिति यह हो चुकी थी कि उससे शिक्षा प्राप्त करने तक का अधिकार छीन लिया गया। किन्तु बीसवीं शताब्दी तक आते-आते नारी की शिक्षा-दीक्षा, उसके मानवोचित अधिकारों, पुरुष समाज के परम्परागत बन्धनों से मुक्ति की दिशा में सही मायनों में प्रयास शुरू हुए। वैसे इससे पहले 19वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय जैसे समाज-सुधारकों ने महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार देने के लिए संघर्ष किया। महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, और जवाहरलाल नेहरू जैसे महान नेताओं ने भी इस दिशा में अथक प्रयत्न किए। इन नेताओं के प्रयासों के फलस्वरूप कई क्षेत्रों में महिलाओं ने प्रगति की। अंग्रेजों के विरुद्ध स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान महिलाओं का योगदान सराहनीय रहा।

आजादी के बाद महिलाओं को सामाजिक, राजनीतिक और संवैधानिक स्तरों पर अनेक अधिकार प्राप्त हुए। भारतीय संविधान ने स्थानीय निकाय और नगरपालिकाओं में महिलाओं की 33 प्रतिशत हिस्सेदारी सुरक्षित की है। इसे भारत के लिए गर्व का विषय ही कहा जा सकता है कि देश के हर राज्य में हजारों की संख्या में महिलाएँ स्थानीय निकायों की मुखिया बनकर सरपंच और मेयर की ज़िम्मेदारी निभा रही हैं। यूनिसेफ रिपोर्ट के अनुसार इससे महिलाएँ स्थानीय प्रशासन में परोक्ष भागीदारी करके ग्रामीण क्षेत्रों में बेहतर सुशासन कर सकती हैं। वैसे, संसद में 33 प्रतिशत महिला आरक्षण बिल अभी तक लम्बित है, जिसे पारित करना आज के समय की माँग है। महिलाओं के संरक्षण के लिए बनाए गए विधानों और कानूनों में “महिलाओं के लिए घरेलू हिंसा संरक्षण अधिनियम”, “दहेज निषेध अधिनियम”, “महिला अभद्र चित्रण अधिनियम”, “सती (रोकथाम) आयोग अधिनियम एवं नियम”, “कार्यस्थलों पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न विधेयक” एवं “महिला खरीद-फरोख्त (रोकथाम) अधिनियम” का विशेष तौर पर जिक्र किया जा सकता है। इसके अलावा, सरकार ने महिला सशक्तिकरण के लिए भी योजनाएँ शुरू की हैं। इन योजनाओं में “किशोरी

शक्ति योजना”, “किशोरियों के लिए पोषण कार्यक्रम स्वयंसिद्धा”, “महिलाओं के प्रशिक्षण एवं रोजगार कार्यक्रमों को सहायता”, “व्यथित महिलाओं के लिए स्वाधार अल्प-निवास-गृह”, “परिवार सलाह केन्द्र” और “कामकाजी महिला होस्टल” प्रमुख योजनाएँ हैं। वहीं, भारत सरकार के महिला एवं बाल विकास मन्त्रालय द्वारा “राष्ट्रीय महिला आयोग”, “राष्ट्रीय महिला कोष”, और “राष्ट्रीय महिला सशक्तिकरण नीति” की स्थापना करने जैसे प्रमुख नीतिगत प्रयास भी किए गये हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राजनीतिक क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति पुरुष राजनीतिज्ञों के बराबर रही। श्रीमती सरोजिनी नायडू का उत्तर प्रदेश की राज्यपाल बनना, श्रीमती सुचेता कृपलानी का उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री बनना इसी के कुछ उदाहरण हैं। इसी क्रम में श्रीमती अरुणा आसफ अली, सुश्री विजय लक्ष्मी पंडित को प्राप्त ख्याति इसी गौरव की एक कड़ी है। वे अमेरिका और तत्कालीन सोवियत संघ में भारत की प्रथम महिला उच्चायुक्त रहीं। इसके अलावा, श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नाम को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है, जो भारत की सर्वप्रथम महिला प्रधानमन्त्री थीं। अगर हम आज के परिप्रेक्ष्य में ही देखें तो सफलता के रथ पर सवार भारतीय नारियों में से काँग्रेस पार्टी की अध्यक्ष सोनिया गाँधी को विश्व-प्रसिद्ध फोर्ब्स पत्रिका ने विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली महिलाओं में तीसरे शक्तिशाली राजनीतिज्ञ के रूप में स्थान दिया है। राजनीति के क्षेत्र के अलावा, अन्य कई क्षेत्रों में भी महिलाओं ने अपना नाम अर्जित किया है। प्रधानमन्त्री की सचिव के पद पर महिला कार्य कर चुकी हैं, संघ लोक भी सेवा आयोग और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्ष का पदभार भी महिला संभाल चुकी हैं। खेल के क्षेत्र में पी.टी.उषा, सानिया मिर्जा सरीखी खिलाड़ी और एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करने वाली प्रथम भारतीय महिला बेछेन्द्री पाल, अन्तरिक्ष में जाने वाली प्रथम भारतीय महिला कल्पना चावला, अन्तरिक्ष में जाने वालों में शामिल भारतीय मूल की सुनीता विलियम्स, व्यापार के क्षेत्र में शक्तिशाली महिलाओं में शामिल पेप्सी शीतल पेय बनाने वाली कम्पनी की अध्यक्ष भारतीय मूल की इन्द्रा नूई, काइनेटिक मोटर कम्पनी की प्रबन्ध निदेशक सुलज्जा फिरोदिया, बुकर पुरस्कार से सम्मानित अरुंधति राय और किरण देसाई, नर्मदा सागर बाँध आन्दोलन से जुड़ी सुश्री मेधा पाटकर आदि के नामोल्लेख किए जा सकते हैं।

आज की भारतीय नारी सामाजिक कटघरों से बाहर निकल चुकी है। शिक्षा प्राप्ति के समान अधिकारों के अवसरों से लाभान्वित होते हुए उसकी चेतना के कपाट खुले। आधुनिक शिक्षित भारतीय नारी को अपने स्वत्व का बोध है, उसे अधिकारों का भान है। साथ-ही-साथ अपनी उपयोगिता-शक्ति और कार्य-क्षमताओं का भी उसे धीरे-धीरे ज्ञान हुआ है। उल्लेखनीय है कि आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान ही क्रियाशील है और अपनी सभी प्रकार की क्षमताओं का अद्भुत परिचय दे रही है। इतना ही नहीं, किन्हीं क्षेत्रों में तो वह पुरुषों से भी दो कदम आगे दृष्टिगत हो रही

हैं। नौकरी या अन्य प्रकार के रोजगारपरक कार्यों में संलग्न होकर आज की नारी आर्थिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर होकर अपने पैरों पर खड़ी है। आज वह सदगृहिणी होने के साथ-साथ अध्यापक, विद्वान, विचारक, वैज्ञानिक-इंजीनियर, प्रशासनिक अधिकारी, पुलिस अधिकारी, प्रधानमन्त्री, कुशल राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, न्यायाधीश, मैकेनिक, ऑपरेटर, ड्राइवर, कंडक्टर आदि क्या कुछ नहीं है। आज की नारी सफलता के उच्च शिखरों को छू रही है। उसके व्यक्तित्व में गुणात्मक परिवर्तन आ चुका है। उसके व्यक्तित्व में आए इस परिवर्तन के मूल में शिक्षा-दीक्षा का उल्लेखनीय योगदान है।

### शिक्षा का प्रचार-प्रसार : महिलाओं की भूमिका

शिक्षित-ज्ञानवान महिलाएँ भावी पीढ़ी को महान बना सकती हैं। भारतीय समाज में माँ को “प्रथम गुरु” का दर्जा दिया जाता रहा है। और यदि “प्रथम गुरु” शिक्षित हो तो सोने पर सुहागा वाली बात सिद्ध होती है। गुरुकुलों के रूप में प्राचीन शिक्षण संस्थाओं में जहाँ कुलगुरु अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, वहीं गुरु-माताओं की शिष्यों के लालन-पालन में भूमिका भी विशिष्ट रहती थी। अगर हम आधुनिक सन्दर्भ में ही विचार करें तो यह पाते हैं, कि भारतीय समाज में जहाँ सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक स्तरों पर परिवर्तन हुए वहीं इन परिवर्तनों के साथ-साथ महिलाओं की शिक्षा पर अधिक बल दिया गया। भारत में पिछली अर्ध-शताब्दी में महिलाओं की शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ है। शिक्षित होने के परिणामस्वरूप महिलाओं में जागरूकता आई है। उन्होंने शिक्षा के माध्यम से अपनी स्थिति-परिस्थिति को पहचानने एवं मूल्यांकित करने का साहस किया है। इस कारण उन्होंने अपनी समझ और क्रियात्मकता को बढ़ावा देना शुरू किया एवं आर्थिक संकटों से निपटने में सफलता प्राप्त की है।

यह महिलाओं के शिक्षित होने का ही परिणाम है कि देश के विकास में इनकी भागीदारी सक्रिय रही है। स्थिति यह हो चुकी है कि आज महिलाएँ फैक्टरियों-मिलों, सरकारी और गैर-सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों-महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों, अस्पतालों, अदालतों, बड़े-बड़े व्यावसायिक संस्थानों, चिकित्सा, पुलिस, सेना, खेल-कूद, अन्तरिक्ष-अभियान आदि अनेकानेक क्षेत्रों में अपना सामर्थ्य और क्षमता सिद्ध करने और विशिष्ट पहचान बनाने में लगी हुई है। इसे महिलाओं के शिक्षित होने का सकारात्मक परिणाम ही कहा जा सकता है कि पहले अशिक्षित होने की स्थिति के चलते महिलाएँ, जीवन और जगत की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों से अनभिज्ञ रहती थीं किन्तु शिक्षा ने उन्हें आर्थिक संकटों से निपटने में सफलता प्रदान की है।

शिक्षा के परिणामस्वरूप ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद महिलाओं के विकास की संभावनाएँ बढ़ीं। इसे वास्तव में एक स्वतन्त्र देश के उज्ज्वल होते समाज की देन ही कहा जा सकता है। राजनीति के क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपनी उपस्थिति, स्थिति और

साझेदारी को उद्घाटित-रेखांकित किया है। आर्थिक समस्याओं के निदान में उसकी उल्लेखनीय भूमिका है। किसी भी आर्थिक संकट की भयावहता को न केवल सहन करने बल्कि भली प्रकार से सुलझाने के लिए भी उसे अब किसी पर निर्भर नहीं होना पड़ता। इसके साथ-साथ वह सामाजिक समस्याओं के निदान की भी इस दृष्टि से मनोवैज्ञानिक कुँजी सिद्ध हुई है, जो किसी भी प्रकार के कठिनाई के दौर में, प्रत्येक स्थिति-परिस्थिति में नई चेतना, नई प्रवृत्ति, नई निष्ठा का सामंजस्य-स्थल साबित हुई है।

इसके अलावा, महिलाओं की शिक्षा ने जनसंख्या वृद्धि दर को कम करने में विशेष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परिवार-नियोजन सहित परिवार कल्याण के तौर-तरीकों को जानने, उन्हें अपनाने में शिक्षित महिलाएँ बढ़-चढ़कर आगे आ रही हैं। परिवार नियोजन के सम्बन्ध में किए गए अध्ययन यह दर्शाते हैं कि जहाँ महिलाओं की शिक्षा की दर उच्च है वहीं प्रजनन दर में कमी हो रही है। परिवार नियोजन कार्यक्रम, “परिवार कल्याण कार्यक्रम” का एक हिस्सा है जिसमें “छोटा परिवार सुख का आधार” सम्बन्धी जानकारी, परिवार को सीमित रखने के उपाय तथा आवश्यक सुविधाएँ जुटाना शामिल है। शिक्षा के अभाव और अन्य कारणों से महिलाओं में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता का अभाव रहता है, वे स्वास्थ्य के प्रति कम सतर्क रहती हैं। इस कारण वे समय से पूर्व ही ज्यादा बढ़ी लगने लग जाती हैं, उन्हें कम आयु में ही बीमारियाँ आ घेरती हैं। यूनीसेफ द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार, देश की केवल दो प्रतिशत महिलाएँ नियमित रूप से हेल्थ चेकअप कराती हैं। लगभग 70 प्रतिशत महिलाएँ केवल पति एवं बच्चों के इलाज के लिए अस्पताल पहुँचती हैं। तीस प्रतिशत महिलाएँ यह सोचकर अपनी स्वास्थ्य समस्या को नजरअन्दाज करती रहती हैं कि उन्हें कुछ नहीं होगा और इसी धारणा के चलते वे जान-बूझकर अपनी मर्जी से उल्टी-सीधी दवाएँ खाती रहती हैं। शेष परिवार की आर्थिक स्थिति अथवा पुरुष-प्रधान मानसिकता वाले लोगों के दबाव में कुछ नहीं बोल पातीं। सिर्फ इतना ही नहीं, देश की 55 प्रतिशत विवाहित महिलाएँ अपनी स्वास्थ्य देखभाल के लिए पति पर निर्भर रहती हैं और अब जब तक वे अस्पताल पहुँचती हैं तब तक बीमारी की स्थिति डॉक्टरों के नियन्त्रण से बाहर हो चुकी होती है। यह वस्तुस्थिति केवल देश के ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में रहने वाली महिलाओं की ही नहीं है, बल्कि दिल्ली जैसे भारतीय महानगरों में रहने वाली पढ़ी-लिखी महिलाओं की भी है। ऐसे में उन्हें स्वास्थ्य के प्रति जागरूक बनाने की नितान्त आवश्यकता है, जिसमें शिक्षा की विशेष भूमिका होगी। महिलाओं के शिक्षित होने से वे स्वास्थ्य के प्रति जागरूक होंगी। व्यापक स्वास्थ्य कार्यक्रमों जैसे शिक्षाप्रद कार्यक्रमों के माध्यम से उन्हें जागरूक बनाया जा सकता है।

शिक्षा ने महिलाओं को जन-संचार माध्यमों में प्रवेश के भी अनेक अवसर उपलब्ध कराए हैं। इन जन-संचार माध्यमों में रेडियो, टेलीविजन, फिल्म-जगत,

विज्ञापन-जगत आदि अनेक क्षेत्र शामिल हैं। इसके अलावा, पत्रकारिता का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है, जिसमें महिलाओं की भागीदारी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। जब से कुछ चैनलों ने महिलाओं को नेतृत्व प्रदान किया है, तब से उन्होंने भारी उपलब्धि दर्ज की है। इस क्षेत्र में अपनी विशेष पहचान बनाने वाली महिलाओं में बरखा दत्त, सागरिका घोष, नीलिमा सिंह आदि का नाम भुलाया नहीं जा सकता। पत्रकारिता में सक्रिय ऐसी ही महिलाओं ने बेधड़क होकर खाड़ी युद्ध की रिपोर्टिंग तक में सहजता से योगदान दिया था। शिक्षा ने महिलाओं को आधुनिक जगत से साक्षात् कराया है।

### **महिलाओं में शिक्षा का प्रचार-प्रसार : वर्तमान परिदृश्य**

यह तो सुनिश्चित है कि अब तक मिले शिक्षा के अवसरों का महिलाओं ने भली प्रकार से लाभ उठाया है। इन अवसरों से लाभान्वित होने के साथ-साथ उन्होंने अपनी प्रतिभा-क्षमता का परिचय दिया है। आज महिलाएँ जीवन-जगत के प्रत्येक मोड़ पर, प्रत्येक क्षेत्र में शिखर पर पहुँच रही हैं। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ नारी की पगचाप न पहुँच चुकी हो। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों के द्वार उसके लिए पूरी तरह से उन्मुक्त हैं। स्थिति यह है कि शब्दों से लेकर हवा में उड़ने तक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर खेल के मैदान से लेकर एवरेस्ट की चोटी तक, आन्दोलन से लेकर राजनीतिक तक, आर्थिक विकास से लेकर चिकित्सा विज्ञान तक, न्यान-व्यवस्था की सिरमौर बनने से लेकर राजनीति तक, आर्थिक विकास से लेकर चिकित्सा विज्ञान तक, न्याय-व्यवस्था की सिरमौर बनने से लेकर प्रशासन की कुर्सी तक पहुँचने में महिलाओं ने जीवन-व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में और हर पल अपनी प्रतिभा का ही परिचय दिया है।

महिलाओं को शिक्षा के अवसरों की प्राप्ति से न केवल उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ है, अपितु इसने समाज के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस स्थिति के बावजूद, हमें इस तथ्य को भी नज़रअन्दाज नहीं करना चाहिए कि भारतीय समाज में महिलाओं का अभी भी एक ऐसा बड़ा वर्ग है जो आज भी शिक्षा से वंचित है, शिक्षा के अवसरों का लाभ नहीं उठा पा रहा है। ऐसे में इस वर्ग को शिक्षित करना अनिवार्य है, ताकि वह सामाजिक-आर्थिक विकास में अपना उल्लेखनीय योगदान दे सके। इस अशिक्षित वर्ग को शिक्षित करने में वे लोग अपना सक्रिय सहयोग दे सकते हैं जो शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। वैसे, शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार के लिए सरकार द्वारा भी अनेक प्रकार के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। किन्तु यह वास्तव में ऐसा विषय है जिसके लिए हम केवल इन सरकारी कार्यक्रमों पर निर्भर नहीं रह सकते हैं।

सामाजिक विकास में महिलाएँ अहम् भूमिका निभा रही हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार में महिलाओं की सक्रिय रूप से सहभागिता रही है। वे शिक्षा के प्रचार-प्रसार के जरिए समाज को एक नई शक्ति प्रदान कर रही हैं। वस्तुतः महिलाओं के द्वारा किए गए कार्यों का प्रभाव न सिर्फ परिवार पर वरन राष्ट्र की खुशहाली पर भी पड़ता है। यदि

देश-समाज को विकास के शिखर तक ले जाना है, विश्व में तेज़ी से हो रहे विकास के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना है तो महिलाओं की इस सहभागिता को और अधिक बढ़ाना होगा। वस्तुतः शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए सांस्कृतिक आन्दोलन होना चाहिए। सांस्कृतिक आन्दोलनों के माध्यम से लोगों की मानसिकता में बदलाव लाया जा सकता है।

### **शिक्षा का प्रचार-प्रसार : महिलाओं का प्रदेय**

आज के युग में ऐसी असंख्य महिलाएँ हैं जो उच्च शिक्षा प्राप्त कर न सिर्फ अपने व्यक्तित्व में गुणात्मक परिवर्तन ला रही हैं, अपितु इस गुणात्मकता में विस्तार करके, स्वयं को भूमिका-मॉडल के रूप में स्थापित करके व्यावहारिक ज्ञान और शिक्षा का प्रचार करते हुए जिन्होंने देश-समाज को सुदृढ़ बनाया है। शिक्षा के द्वारा समाज में अपनी छवि बनाने वाली ऐसी महिलाएँ, अन्य महिलाओं को शिक्षा-प्राप्ति के सम्बन्ध में सही दिशा दे सकती हैं। इस सन्दर्भ में “क्रेन बेदी” के नाम से प्रसिद्ध रह चुकीं भारत की प्रथम महिला पुलिस अधिकारी (आई.पी.एस.) सुश्री किरण बेदी का नाम विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं। विभिन्न विभागों और विभिन्न पदों पर कार्यरत रहीं सुश्री बेदी 1993 में दिल्ली की जेलों की महानिरीक्षक नियुक्त की गई थीं। उनके कार्य-दायित्व के क्षेत्र में दिल्ली की तिहाड़ जेल भी शामिल थी। सुश्री बेदी ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार को सही दिशा देते हुए जेल को सुधार-गृह का रूप दे डाला। उनके द्वारा अपनाई गई शिक्षा के प्रचार-विस्तार की नीतियों का यह सकारात्मक परिणाम निकला कि वहाँ के कैदी सकारात्मक-निर्माणात्मक कार्य तथा पढ़ना-लिखना, खेलना आदि सभी कुछ साथ-साथ कर रहे हैं। जेल के निरक्षर कैदियों ने पढ़ना-लिखना शुरू किया और कुछ कैदी उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर रहे हैं। देश के प्रतिष्ठित इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय ने कैदियों के लिए तिहाड़ जेल में अपना अध्ययन केन्द्र स्थापित किया। वास्तव में सुश्री बेदी ने अपने दूरगामी एवं समाज की दृष्टि से सार्थक प्रयासों के द्वारा समाज के एक ऐसे वर्ग में शिक्षा का उल्लेखनीय विस्तार किया जिसे हेय दृष्टि से देखा जाता था।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि सुशिक्षित व्यक्ति देश-जाति-समाज ही नहीं, संपूर्ण मानवता के सच्चे अर्थों में प्रगति में सहायक हो सकता है। इसमें नारी की उपस्थिति आवश्यक है।

## पाठकीय प्रतिक्रिया

... परिवर्तित पते पर 'चिंतन-सृजन' एवं *Dialogue* भेजने के लिए आभारी हूँ, मैं इन दोनों ही मूल्यवान पत्रिकाओं की तत्परता से प्रतीक्षा करता हूँ। अपने इतिहास और वर्तमान दोनों में ही ये पत्रिकाएँ अपनी प्रकृति से जुझारू हैं। हर अंक अपने आप में सबल और शबाल है। यह जोत जलते रहे, यात्रा जारी रहे। **मदनमोहन तरुण, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भारतीय भाषा संकाय, एल बी एस नेशनल एकेडेमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी, नेशनल डिफेन्स अकादमी, खडकवासला, पुणे।**

'चिंतन-सृजन' के नवीन अंक में संपादकीय ने अत्यंत उद्वेलित किया। यह सच है कि नक्सलवाद, आतंकवाद और अल्पसंख्यकवाद के प्रति हमारे देश में बौद्धिक भ्रमजाल बहुत मजबूत बना रहा है। केवल पुलिस या सैन्य कार्रवाइयाँ अथवा प्रभावित क्षेत्र के लोगों के विकास के नाम पर अरबों रुपये के पैकेज देना, यह सब तो निरंतर होता रहा है। किंतु वैचारिक दुराग्रहों, दुष्प्रचार और कट्टरपंथी मतवादों से सीधे-सीधे दो-दो करने के आवश्यक काम में भारी कोताही रही है। बल्कि प्रायः उलटे ऐसे मतवादों को आदर-सम्मान दिया जाता रहा है। इस से देशभक्त और सत्यनिष्ठ भारतवासियों में क्षोभ रहा है, पर उसे महत्त्व नहीं मिलता। न शासकों द्वारा, न मीडिया, न विद्वत्तजनों में। - **डॉ. शंकर शरण/विजय कुमार, एन.सी.ई.आर.टी. नई दिल्ली।**

... मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक पत्रिकाओं की भीड़ में "चिन्तन-सृजन" अपना एक अलग मुकाम रखती है, जो व्यावसायिकता से बहुत दूर है। पत्रिका के लिए, मेरी शुभ कामनाएँ स्वीकारें। **डॉ. लक्ष्मीनारायण 'शोभना' गुना(म.प्र.)।**

'चिंतन-सृजन' का अक्टू-दिसं. अंक भी अपने तथ्यनिष्ठ लेखों और सम्पादकीय के चलते पठनीय और मननीय है। तीनों तरह के आतंकवादियों की सही तस्वीर आपने उभारी है: कारणों और निवारण के उपायों की भी। यह कड़वी और शर्मनाक सचाई है कि "वे सारे उपनिवेशवादी मिथक बार-बार दुहराए जाते हैं, जिन्हें विदेशियों ने हमारे देश और समाज को कमजोर करने, उन्हें भीतर से तोड़ने के लिए गढ़े थे। पर हम कभी उनका उत्तर नहीं देते।" ...कैसे देंगे? आपका कहना सही है कि ... "जिन्हें सत्तासीन पार्टी के बौद्धिक मोर्चों पर होना चाहिए था, वे नक्सलियों का मोर्चा

सँभाले हुए हैं और समाज में भ्रम फैलाकर आतंकवादियों को लाभ पहुँचा रहे हैं”। न केवल सत्तासीन राजनीतिज्ञों, बल्कि तथाकथित विपक्षी दलों का भी ‘रिकार्ड’ और आचरण यही साबित करता है कि वे ‘वैचारिक धुंध’ के जानते-बूझते शिकार हैं। “बिना लड़े ही वैचारिक सैद्धांतिक लड़ाई हार जाने” की जो बात अपने उठाई है विह गौर करने की है। वक्त रहते संभल जाने और एक समूची सभ्यता के जीवन-मरण खरीखी चुनौती कबूल करने और इस तरह अपने स्वधर्म के पालन की भी।

इसी सन्दर्भ और सिलसिले में शंकर शरण का लेख ‘तसलीमा और इस्लाम की स्त्री-समस्या’ भी ध्यान देने योग्य है : अपनी तथ्याधारित, अध्ययन-पुष्ट, सटीक दृष्टांत-संवलित वैचारिक स्पष्टता और स्पष्टवादिता के लिए। क्यों हमारे देश के पेज-श्री हिन्दू उदारवादी भी तसलीमा से कतराते हैं कि्यों तमाम तरह के वामपंथी, सेक्यूलर रेडिकल भी तसलीमा के बचते हैं, इसके जिस कारण को शंकर शरण ने तेज रोशनी में उघाड़ा है, वह सही है। शंकर शरण के इस ‘आरोप’ का यथातथ्य उत्तर सम्बंधित लोगों को देना ही पड़ेगा अब; कि “एक अर्थ में मुस्लिम उदारवादियों से भी गई-बीती हालत हिन्दू उदारवादियों की है, जिनका पहला दुराव हिन्दू पहचान से है और जिनके शेष सभी विचार, योजनाएँ और गतिविधियाँ इसी ही उपज हैं।” शंकर शरण का लेख उन्हें सीधी चुनौती देता है: उनके पदजमससमबजनंस - मबनसंत चतमजमदेपवदे को। उन्होंने लिखा है कि “बंगलादेश में तसलीमा के अखवारी स्तंभ लोकप्रिय थे। किन्तु भारत में किसी समाचार पत्र ने उन्हें कॉलम लिखने का आमंत्रण नहीं दिया”। यह भी, कि “तसलीमा को सेमिनारों - गोष्ठियों में क्यों नहीं बुलाया जाता?। पैने सटीक, दुनिवार्य सवाल हैं जिन्हें टाला नहीं जा सकता। जैसा कि लेखक ने कहा ही है। “यह सारी बातें न समझना स्वयं को धोखा देना है” तो क्या मीडिया, विश्वविद्यालय इत्यादि शक्तिपीठों पर काबिज हमारे बुद्धिजीवी सचमुच इतने लाइलाज स्तर के आत्मप्रवंचक और आत्मद्रोही हैं? यदि उनका पक्ष है कोई, तो वह भी सामने आवे।

तसलीमा के असामान्य साहस और मानव-निष्ठता की सही सटीक सराहना की है लेखन ने। किन्तु रामस्वरूपजी सरीखे विरल अपवादी धर्मज्ञ चिन्तक की जिस मान्यता को उन्होंने उद्धृत किया है, वह विलकुलसही मात्रा-ज्ञान दर्शाता है और इसीलिए उसमें सुधार की माँग (तसलीमा की) को अनुपयुक्त ठहराता है। उसके बरक्स इरशार माँझी का सुझाव व्यावहारिक है। लेख मे अंत में शंकर शरण ने किसी पाकिस्तानी आलिम की पुनर्व्याख्या वाली शिफारिस का जिक्र किया है। किन्तु पुनर्व्याख्या की फँसावट, को तो वे पहले ही ‘रीजेक्ट’ कर चुके हैं। तब फिर क्या यहाँ उनका आशय इस शब्द से कुछ दूसरा है? ‘आलोचनात्मक संशोधन’ जैसा? **रमेश चन्द्र शाह, भोपाल।**